
मुद्रकः—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखीपुल, रतलाम.

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः॥

सहायकगण की शुभ नामावली



दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व. श्री जैन दिवाकर ासिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चोथमलजी महाराज के प्रभाव- ाली व्याख्यान सीरीज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्न लेखित महानुभावो ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके हपये:—

००१) श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया, सिहोर की छावनी
५००) श्रीमान् सेठ गुलराजजी पूनमचन्दजी, मदनगंज
३०१) ,, ,, चोथमलजी सुराणा, नाथद्वारा
२५०) } ,, ,, कुंवर मदनलालजी संचेती, ब्यावर ब्यावर
,, ,, सेठ जीवराजजी कोठारी नसीराबाद
२०१) ,, ,, साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचन्द भंवरलाल मेहता धानमन्डो उदयपुर
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचन्दजी सा. चौपड़ा सोजत सीटी
१५१) ,, ,, चन्दनलालजी मरलेचा शुलाबजार बैंगलोर कैंट
१५१) ,, ,, गेंदालालजी मोतीलालजी सा. पोरवाड़ इन्दोर

१५१ श्रीमान् सेठ हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत
मु. निम्बाहेड़ा (राज.
१५०) ,, ,, राजमलजी नन्दलालजी भुसावल
१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जेठमलजी जोधपुर
१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालाल चाँदमल कोटेचा, बोदवड़ (पू. खा,)
१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्द्रमलजी गोतमचंन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ,, कस्तुरचन्दजी पुनमचन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, धनराजजी फतहलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, श्रीमती सोभाग्यवती तारादेवीबाई कोटेचा फर्म श्रीमान सेठ मांगीलाल केसरीचन्दजी कोटेचा भुसावल (पू० खा०)
१०१) ,, ,, श्रीमान सेठ रंगलालजी झामड़ नांदूरावाले की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई नादूंरा (बरार)
१०१) श्रीमान जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
१०१) ,, पन्नालाल बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहनबाई उदयपुर
१०१) श्रीमान सेठ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया
मु० कटंगी (बालाघाट)
१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलाल पंसारी कोटा
१०१) ,, ,, अमोलकचन्दजी बोहरा फर्म रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन रामगंज मंडी
१०१) श्रीमान सेठ जसराजजी मोहनलालजी बोहरा,
मु० सोरापुर भंडार

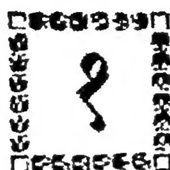
१०१) श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सा० वोथरा
फर्म कन्हैयालालजी इन्द्रमलजी जैन
मु० रामगंज मन्डी
१०१) सौ० पार्वतीवाई फर्म उत्तमचंद नवलचन्द एन्ड सन्स
वरडिया जलगांव (पू० खा०)
१०१) श्रीमान सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की
धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिवाई मु० चीचखेड़ा ता.
जामनेर पो. फतहपुर (पू० खा०)
१०१) श्रीमान् सेठ गणेशमलजी छत्तीसा वोहरा की धर्मपत्नी
श्रीमती सौ० पानवाई खांमगांव
१०१) „ „ मगनीरामजी हणुमतमलजी झामड़ तर्फे
श्रीमान उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़
मु० खामगांव (वरार)
१०१) „ „ रामचन्द्रजी वोथरा अपने स्व० पूज्य पिताजी
सेठ घोसीरामजी की स्मृति में वांदला (वरार)
१०१) „ „ धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ मेड़सीवाला
मु० पो० अकोला (वरार)
१०१) „ „ रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा
धामणगांव वरोरा (म. प्र.)
२०१) „ „ मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी
श्रीमती राजीवाई वरोरा (म. प्र.)
१०१) „ „ भेरुलालजी अणतमलजी वरोरा (म. प्र.)
१०१) „ „ सागरमलजी राजमलजी वोहरा
चन्दनखेड़ा वाला वरोरा (म. प्र.)
१०१) श्रीमान् सेठ गणेशमलजी गुलावचंदजी गोठी वरोरा (म. प्र.)
१०१) „ मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा.
अड़ेगांव वाला (वणी) वरार

१०१) श्रीमान् बालचन्दजी ताराचन्दजी कोटेचा मु० वणी (बरार)
१०१) ,, चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व. पानमलजी चोरड़िया, की धर्मपत्नी श्री ताराबाई मु० वणी (बरार)
१०१) ,, मुलतानमलजी बलवन्तरामजी खींचा मु० सावरगांव (बरार)
१००) ,, प्राणलालजी सा. सांखला, उदयपुर
१२१) ,, माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी, जयपुर
१०१) ,, जवाहरमलजी मुल्तानमलजी बम्ब, भुसावल
१०१) ,, हीरालालजी मोतीलालजी घानेचा बोहरा खामगांव
१०१) ,, मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला, बैंगलोर सिटी
१०१) ,, कन्हैयालालजी वच्छराजजी सुराणा, बागलकोट
१०१) ,, नवरतनमलजी सिंघवी फूलियाकलां
१०१) ,, मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़ राजाखेड़ी वाला मन्दसौर
१०१) ,, लालचन्दजी मोतीलालजी ललवानी तोंडापुर (खानदेश) स्वर्गीय पिताजी प्रतापमलजी की स्मृति में
१०५) ,, बसंतीलालजी सुन्दरलालजी जैन पिपलिया
१०१) ,, देवराजजी जीतमलजी बीजापुर
१०१) ,, जीवराजजी महता की धर्म पत्नी चन्द्रकलाबाई पूना
१०१) ,, रतनचन्दजी सेसमलजी, बांदरा बम्बई
१०१) ,, शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१०१) ,, कुन्दनमलजी पुखराजजी लूंकड़ बैंगलोर



--: विषयानुक्रमणिका :--





तिर्यंगति की यातनाएँ

स्तुतिः—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुं ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते है—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ?

हे महाप्रभो! आप अनन्त गुणों के पुंज हैं, अतएव आपके अनन्त नाम है। सन्त जन विभिन्न नामों से आपकी स्तुति एवं उपासना करते है। प्रभो! आप अव्यय हैं, अर्थात् अविनाशी हैं, विभु अर्थात् सर्वव्यापी हैं, अचिन्त्य हैं अर्थात् छद्मस्थ जीवों की

बुद्धि, मन, एवं वाणी के अगोचर स्वरूप वाले है, आप असंख्य हैं अर्थात् लोकाकाश के बराबर असंख्यात विशुद्ध आत्म प्रदेशा से मडित हैं, आप आद्य हैं अर्थात् आदिनाथ कह कर पुकारे जाते हैं अथवा लोक में प्रसिद्ध अनेक देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं, आप ही असली ब्रह्मा है, क्योंकि आपने कर्मभूमि के आरंभ में जगत् की आजीविका आदि के साधनों की समाज व्यवस्था की और फिर धर्म की आदि की है। आप अनंत आत्मिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण ईश्वर है। आप अनन्त है अर्थात् योगी जन आपके शुद्ध स्वाभाविक सहज गुणों का चिन्तन करते हुए अन्त नहीं, पाते इसी प्रकार आपका काल से भी अन्त नहीं है, आप विष्णु हैं योगियों में ईश्वर हैं, सर्वोत्कृष्ट योगी हैं, योग के वेत्ता हैं, अनेक रूप भी हैं और एक रूप भी हैं। आप अनन्त क्षायिक ज्ञानस्वरूप हैं और पूर्ण रूप से निर्मल हैं।

ऐसे श्री नाभिनन्दन आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हें हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! भगवान् की स्तुति के इस पद्य में भगवान् की जो विशेषताएँ बतलाई गई है, उनमें से एक-एक विशेषता पर भी बहुत विस्तार से विचार किया जा सकता है। यहाँ तक कि एक-एक पुस्तक लिखी जा सकती है। व्याख्यान के इस थोड़े--से समय में उन पर पूरी तरह प्रकाश नहीं डाला जा सकता। यह विषय इतना गंभीर भी है कि सर्वसाधारण श्रोताओं को शायद रुचिकर न हो। तथापि संक्षेप में यहाँ थोड़ा उल्लेख करना उचित ही होगा। भगवान् को सर्वप्रथम 'अव्यय' कहा गया है। भगवान् दो प्रकार से अव्यय हैं। प्रथम तो इस प्रकार कि उनकी परम--विशुद्ध आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में से किसी भी काल में एक भी प्रदेश न्यून

होने वाला नहीं है। दूसरे, इस कारण कि भगवान् की जो मुक्तदशा है, उसका कभी अन्त आने वाला नहीं है। सिद्ध पर्याय सादि अनन्त है, अर्थात् उसकी आदि तो है परन्तु अन्त कभी आने वाला नहीं है। कई लोग कहते हैं कि मुक्तात्मा निर्वाण को प्राप्त कर लेने के पश्चात जब अपने धर्मतीर्थ का ह्रास होते देखते हैं, तो उसका उद्धार करने के लिए पुनः संसार में आ जाते हैं। कई--कई मानते हैं कि संसार में जब अधर्म की वृद्धि होती है तो ईश्वर अवतार ले करके धर्म का उत्थान करता है। वस्तुतः यह सब कपोल कल्पना है। मुक्त जीव सर्वथा निर्विकार होते हैं और जन्म--मरण के कारणों से परे हो जाते हैं। उनके पुनः जन्म लेने और मरने की कोई संभावना ही नहीं की जा सकती।

भगवान् को 'विभु' कहा है। इसका अर्थ 'व्यापक' होता है। कुछ लोगों का खयाल है कि भगवान् आकाश की तरह सब जगह ठसाठस भरे हुए हैं। वह शरीर से सर्वव्यापी हैं। कहा है—

विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पात्,
विश्वतो बाहुरुत विश्वतो मुखः।

अर्थात् भगवान् के हाथ, पैर, भुजा और मुख सर्वत्र विद्यमान हैं।

अगर यह बात सही मान ली जाय तो संपूर्ण लोक ईश्वर के ही शरीर से परिपूर्ण हो जाता। फिर दूसरे अनन्त पदार्थों के लिए जगह ही न रहती। अतएव भगवान् को शरीर से सर्वव्यापी न मान कर ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी मानना चाहिए। भगवान् का ज्ञान सर्वव्यापी है। वह भी इसी अर्थ में कि उससे लोक-अलोक के समस्त पदार्थ जाने जाते हैं। ऐसा नहीं है कि भगवान् का ज्ञान

उनकी आत्मा से बाहर निकल कर सब जगह फैला हुआ हो। ज्ञान आत्मा का गुण है और गुण, गुणी को छोड़ कर अलग नहीं हो सकता। अतएव उनका ज्ञान उनकी आत्मा में ही स्थित होकर समस्त पदार्थों को जानता है और इसी दृष्टिकोण से भगवान् विभु या सर्वव्यापक हैं।

भगवान् अचिन्त्य हैं। अनन्त आत्मिक शुद्ध स्वाभाविक गुणों से परिपूर्ण होने पर भी वे हमारी बुद्धि में नहीं आते, क्योंकि सर्वथा अमूर्त्त हैं। उनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि पुद्गल के धर्म नहीं है। शब्दों द्वारा उनके पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। मन से चिन्तन नहीं किया जा सकता। तर्क का वहाँ प्रवेश नहीं होता। मुक्तात्मा का स्वरूप केवल अनुभवगम्य है और वह अनुभव सिर्फ केवलज्ञानियों को ही पूरी तरह हो सकता है।

भगवान् 'असंख्य' हैं। उनके गुणों की संख्या नहीं की जा सकती, यही नहीं, उनके एक एक गुण की विमल विशुद्ध पर्यायों की भी गिनती नहीं हो सकती।

प्रभु आदिनाथ 'आद्य' हैं। यों तो प्रत्येक तीर्थङ्कर धर्मतीर्थ की आदि किया करते हैं, अतएव उन्हें आद्य कहा जा सकता है, परन्तु ऋषभदेवजी तो इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर थे। यही नहीं, उन्होंने कर्मभूमियुग का प्रारम्भ भी किया है और कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर जगत् के जीवों को नये ढंग से जीवन-निर्वाह की कला सिखलाई है। अतएव उन्हें 'आद्य' कहना सर्वथा उचित ही है।

इसी प्रकार भगवान् शुद्ध -बुद्ध निजात्मब्रह्म में लीन होने के कारण ब्रह्मा है। अनन्त अपरिमित ऐश्वर्य-आध्यात्मिक सम्पत्ति

से सम्पन्न होने के कारण ईश्वर हैं। अनन्त गुणात्मक होने से अनन्त हैं। इत्यादि विशेषणों की व्याख्या आगम के अनुकूल समझ लेनी चाहिए।

आचार्य महाराज कहते हैं-प्रभो! आपको किस नाम से पुकारा जाय? यदि ऋषभदेवजी, अजितनाथजी और इसी प्रकार चौबीसी का नाम लिया जाय तो इन नामों के अनन्त तीर्थङ्कर हो चुके हैं। उन सब को तथा अन्य नाम वाले समस्त भगवंतों को नमस्कार करने का सरल उपाय है—'णमो सिद्धाणं' कहना। इस छोटे-से वाक्य से समस्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो जाता है। भगवंतों को नमस्कार करने का बड़ा माहात्म्य है। उससे जन्म-जन्मान्तर के पापों का विनाश हो जाता है। इसी कारण नमस्कारमंत्र को सब मंत्रों मे प्रधान माना है। इस मंत्र मे पाँच पद होते हैं—(१) नमो अरिहंताणं (२) नमो सिद्धाणं (३) नमो आयरियाणं (४) नमो उवज्झायाणं और (५) नमो लोए सव्वसाहूणं। इसी को नमस्कारमंत्र कहते हैं।

जो प्राणी प्रतिदिन णमोकारमंत्र का स्मरण करता है, वह नरक में नहीं जाता और न जानवर होता है। कितना प्रभाव है इस नमस्कारमंत्र का! इसका स्मरण करने वाला जीव या तो मनुष्य होता है या देवगति पाता है। यह अनादिकाल से चला आ रहा है और अनादिसिद्ध मंत्र है। अनन्त चौबीसियाँ हो गईं, तब भी यह मंत्र मौजूद था। अनन्त चौबीसियाँ भविष्य मे होंगी, तब भी यह मंत्र मौजूद रहेगा। इसके एक अक्षर में भी फर्क नहीं आता। यह मंत्र समस्त श्रुतों का सार, समस्त मंगलों में उत्तम मंगल और समस्त पापों का प्रणाशक है।

इस महामंत्र के प्रथम पद में अरिहन्त भगवान् को नमस्कार किया गया है। चार घातिककर्मों का क्षय करके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख-वीतरागता प्राप्त करने वाले लोकोत्तर महापुरुष अरिहन्त कहलाते हैं। उन्हें जीवमुक्त परमात्मा कहते है। वे संसार में रहते हुए भी संसार से मुक्त हो चुके हैं, क्योंकि जन्म-मरण के कारणों का समूल विनाश कर चुके हैं।

दूसरे पद में सिद्ध भगवान् को नमस्कार किया गया है। यह सिद्ध भगवान् क्या है? सिद्ध कैसे हुए? आत्मा का सर्वथा शुद्ध स्वरूप ही सिद्ध पर्याय है। प्रत्येक आत्मा निश्चय नय से शुद्ध स्वरूप वाली ही है। सिद्धां में और संसारी आत्माओं में निश्चय दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है। जो कुछ अन्तर है, वह औपाधिक है। अर्थात् कर्मरूप उपाधि से उत्पन्न हुआ है संसारी आत्मा काम, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकारों के कारण मलीन हो रही है। इस प्रकार उसके असली गुण प्रकट नहीं हो पाते और वह सिद्धत्व या ईश्वरत्व को प्राप्त करने में असमर्थ है।

श्रीमद् आचरांगसूत्र में फर्माया है कि—जीव राग, द्वेष आदि के वशीभूत होकर नरकदर्शी होता है। और जो जीव नरक को देखेगा वह जानवरां की योनि को भी देखेगा। कहा है—

'जे निरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।'

अर्थात नरक में से निकल कर जीव तिर्यंच योनि में जाता है। मनुष्य जन्म मिलना बहुत कठिन है। बहुत पुण्य हो तब मिलता है। जीव बहुत पाप करके नरक में जाता है और वहां पापों का फल भोगता है। किन्तु जब कुछ पाप शेष रह जाते हैं

और नरक का आयु पूर्ण हो जाती है, तब उन शेष पापों को भोगने के लिए तिर्यंच गति में जन्म लेना पड़ता है। जैसे स्वर्ग में सुख भोगते-भोगते थोड़े से पुण्य बाकी रह जाते हैं, तो वह जीव यहाँ राजा बन कर उस पुण्य को भोगता है।

जो जीव नरक से निकल कर जानवर बनता है और शेष पाप कर्मों को भोगता है तो उसे क्या कम दुःख उठाने पड़ते है ? उसे भयानक यातनाएँ उठानी पड़ती है। ऐसा जीव अगर घोड़ा बन जाता है तो उस पर या तो बोझा लादा जाता है या उसे तांगे में जुतना पड़ता है । चार-पाँच आदमी तांगे मे बिठलाये जाते है और तेज़ चाल नहीं चलता तो ऊपसे कोड़ो की मार खानी पड़ती है। चाबुक की मार से व्याकुल होकर पिछली टांगे ऊपर फैंकता है जो तांगे से टकराती हैं और पैरों में खून तक निकल आता है। लद्दू घोड़ों की पीठ में घाव पड़ जाते हैं, फिर भी लोग ऊपर काठी डाल कर भारी बोझ लाद देते हैं । इतने पर भी उन्हें जब मर्जी हुई तो चारा डाल दिया, नहीं तो भूखे मरते खड़े रहे। पानी की भी परवाह नहीं की जाती । जानवर बोल नहीं सकते, फरियाद नहीं कर सकते। मनुष्य हो और बीमार हो जाय तो वह कह देता है कि मुझे यह चाहिए, वह चाहिए, मेरा यह दुखता है, वह दुखता है। मगर बोल न सकने के कारण जानवरों की कोई परवाह नहीं करता।

जंगल के हिरणों को ही लीजिए। जब वे बीमार पड़ जाते हैं तो कहो कौन उनकी सुधि लेता है ? उन्हे कौन चारा डालने, पानी पिलाने या दवा देने जाता है ? यहाँ बच्चा बीमार हो जाता है तो माँ कहती है-'बेटा ! खिचड़ी बना दूं ? गरम-गरम बादाम का सीरा खिला दूं ?' मगर वन-विहारी हिरनों की कौन परिचर्या

करता है ? वे बीमार हो जाते हैं तो किसी पेड़ के नीचे पड़े रहते हैं और भूख प्यास की प्राकृतिक चिकित्सा से ही उनकी बीमारी दूर हो जाती है। जब बीमारी दूर हो जाती है तो आप ही उठ कर चारा चरते हैं और पानी पीते हैं। कौन जाकर उनको साता पूछता है ?

फिर शिकारी लोग बिना कुछ अपराध किये ही तीर अथवा बंदूक से उनका शिकार करते हैं। कोई उन गरीबों की फरियाद सुनने वाला नहीं है।

इसी प्रकार कई निर्दय एवं पापी लोग खरगोशों को भी मार डालते है और भून कर खा जाते हैं। कई जानवर आंतों के लिए मारे जाते हैं। पिंजारे बकरों को आंतों के लिए मारते है और फिर उनकी तांत से रुई पांजते हैं। इस प्रकार तिर्यंच गति में भी भारी दुःख हैं। उन मूक-वाचाहीन दीन जानवरों की रक्षा करने वाले कौन है ? बेचारे जानवरों पर कितना अत्याचार किया जाता है ? कोई उनकी सुनवाई नहीं है। पापी लोगों ने समझ लिया है कि जैसे जानवरों में आत्मा ही नहीं है ! उन्हें हमारी तरह सुख-दुःख की वेदना ही नहीं होती। उनका तो कर्म ही रक्षक और भक्षक है !

भाइयो ! विवाह-शादी में बैंड बाजा और ढोली आते हैं; लेकिन आपको मालूम है कि यह ढोल और बाजे किसके बनते हैं ? हम यह बात सुनी-सुनाई नहीं कहते, निर्णय करके कहते हैं। ये जिंदे जानवरों को मार कर बनाये जाते हैं। स्वतः मरे हुए जानवरों के चमड़े से नहीं बनते, क्योंकि उनमे से वैसी आवाज़ नहीं निकलती। जो नगाड़ा बनवाता है, उसे बनाने वाले अकसर यही कहते है कि एक महीने बाद मिलेगा। इस बीच जैसा नगाड़ा बनाने का आदेश दिया गया हो, उसी के अनुसार वे पाड़ा खरीदते

है। उसके पैर बाँध देते हैं और फिर उसके शरीर पर लकड़ियों से निर्दयता पूर्वक प्रहार करते हैं। मारते-मारते जब पाड़े की चमड़ी खूब सूझ जाती है, तब उसे मार डालते है और उस चमड़े को शरीर पर से उतार कर तत्काल ही नगाड़े पर मढ़ देते हैं। तब कहीं वह नगाड़ा बोलता है!

इस प्रकार नगाड़ों के लिए भी पचेन्द्रिय जीवों की घात होती है। इस कारण बहुत-से मन्दिरों में तो नगाड़े बजाना बद कर दिया गया है।

एक आदमी ने नगाड़े की जोड़ी बनवाई। उसके लिए कितने पाड़े मारे गये, यह सब हाल बनाने वाले ने मुझे बतलाया था। बनवाने वाले का नाम भी मुझे याद है, परन्तु उसे प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। यह हमारे ससार के ही गाँव की बात है। किन्तु जो बात एक गाँव मे है, वह अन्यत्र भी है।

भाइयो! आप लोग कीड़ियों की दया पालने वाले है, किन्तु आप नहीं जानते कि दिन-रात आपके काम मे आने वाली चीजों के लिए हजारो पचेन्द्रिय जानवरों की हिंसा हो रही है। यह चमड़े की मुलायम चीजें कैसे बनती हैं? गर्भवती गाड़र के पेट में जोर से लातें मारी जाती है। लात के आघात से गाड़र का गर्भ गिर जाता है और गर्भ के चमड़े से मुलायम मनीबेग (बटुए) आदि-आदि चीजे तैयार होती है! कहिए, कितनी घोर हिंसा है? इस हिंसा को दयावान् श्रावक कभी सहन कर सकता है?

आप यह न सोच ले कि हम अपने हाथ से हिंसा नहीं करते अतएव हमें उस हिंसा का भागी नहा बनना पड़ता। ऐसा समझना अपने को धोखा देना है। जो लोग ऐसी हिंसामय वस्तुओं

का उपयोग करते हैं, वे अवश्य इस हिंसा के हिस्सेदार हैं। वे हिंसा को उत्तेजन दे रहे हैं, इस हिंसा का समर्थन करते हैं और घोर पाप के भागी होते हैं। अतएव आपको विवेक के साथ प्रवृत्ति करनी चाहिए। आपका धर्म विवेक में है। जहाँ विवेक नहीं, वहाँ धर्म भी नहीं है। कहा है—

मत लूटो तुम जीवों के प्राण,
प्राण मेरे प्यारे ! मत लूटो तुम जीवों प्राण ॥ध्रु व॥

भाइयो ! अगर आप जीवों पर दया करना चाहते हैं और साथ ही अपने ऊपर दया करना चाहते हैं तो जीवों के प्राण मत लूटो। इस प्रकार की हिंसा से बचो। यह ऐसी हिंसा है जिसके बिना आपका कोई काम नहीं रुक सकता।

किन्तु यहाँ तिर्यंचगति के दुःखों का प्रसंग चल रहा है। जो जीव इस प्रकार की हिंसा करता है, अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उसका अनुमोदन करता है, कराता है उसे नरक तिर्यञ्चगति में जन्म लेना पड़ता है। वहाँ ऐसी-ऐसी यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। किन कारणों से जीव को जानवरों की योनि में जन्म लेना पड़ता है, सुनिए—

उन्मार्गनाशनपराः कृतमार्गनाशाः,
मायाविनो विहितजातिबलादिमानाः ।
अन्तःसशल्यशठशीलपराश्च जीवा—
स्तिर्यग्गतेर्जननमायुरुपार्जयन्ति ॥

अर्थात्—जो मनुष्य इस जन्म में दूसरों को कुमार्ग में चलने

की सीख देते हैं, मिथ्यात्व के मार्ग पर प्रेरित करते हैं, वीतराग भगवान् की वाणी के विरुद्ध प्ररूपणा करते हैं, सन्मार्ग का विनाश करते हैं--धर्म के मार्ग को बिगाड़ते है, वे तिर्यंचगति पाते हैं। इसके अतिरिक्त जो कपटाचार का सेवन करते हैं, जो जाति का घमंड करते हैं और अपने को उच्च जाति का मान कर दूसरों को हीन समझते है, उनका तिरस्कार करते हैं, अपने बल आदि का अभिमान करते हैं तथा जिनके हृदय में शल्य विद्यमान रहता है, जो धूर्त्त होते हैं; ऐसे लोग तिर्यंचगति में जन्म लेकर उपर्युक्त दुःखों के पात्र बनते है।

तिर्यञ्चगति में कैसे-कैसे दुःख है ?

क्षुत्तृड्हिमोष्णानिलशीतदाह-
दारिद्र्यशोकप्रियविप्रयोगैः ।
दौर्भाग्यमौर्ख्यनभिजात्यदास्य-
वैरूप्यरोगादिभिरस्वतंत्रः ॥

तिर्यंचगति के दुःखों की कथा लम्बी है। उन्हे क्या दुःख होते है, यह वही जानते है। कुछ-कुछ हम लोग प्रत्यक्ष भी देख सकते हैं। भूख,प्यास उन्हे सहन करनी पड़ती है। जब रोमांच खड़ी कर देने वाली और अंगो को ठिठुरा देने वाली ठंडी हवा चलती है तो कौन जानवरों को रुईदार रजाइयाँ ओढ़ाता है ? जब अंग-अंग को जला देने वाली लू चलती है तो कौन उनकी रक्षा करता है ? गर्मी-सर्दी के कष्ट उन्हें अपने नंगे बदन पर ही भोगने पड़ते हैं। दरिद्रता उनकी जन्मजात पूंजी है। शोक से वे घिरे रहते हैं। इष्टवियोग के भयानक दुःख से पीड़ित होने पर किसे मतलब है कि उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करे। दुर्भाग्य उनका पिण्ड

नहीं छोड़ता। मूर्खता-अज्ञान-अविवेक से आजीवन घिरे रहते हैं। वे नीच समझे जाते हैं। विरुपता और बीमारी आदि के न जाने कितने-कितने दुःख उन्हे भुगतने पड़ते हैं।

तात्पर्य यह है कि तिर्यंचगति नाना प्रकार की पीड़ाओं और व्यथाओं का भंडार है। उससे बचने का उपाय यही है कि तिर्यंचगति के कारणों से बचा जाय।

देखो, मृगापुत्र को विरक्ति हो गई थी। वे एक रईस के लड़के थे और अपने महल के झरोखे में बैठे हुए थे। बाहर के दृश्य देखते-देखते अचानक ही एक मुनिराज पर उनकी दृष्टि पड़ी। क्या देखते हैं कि मुनि महाराज धीमी-धीमी चाल से, नीचे देखते हुए चले आ रहे हैं। हाथ में रजोहरण हैं, मुख पर मुख वस्त्रिका है और दूसरे हाथ में झोली है। मुनिराज को देखकर मृगापुत्र विचार मे लीन हो गये। उनके पास में उनकी पत्नियाँ बैठी हुई थी। कोई पान बना रही है, कोई पंखा झल रही है और कोई फूलों का हार गूँथ रही है। किसी के हाथ में पानी की झारी है, कोई हाथ-पैर दबा रही है और कोई मधुर वाणी से उनके चित्त को आह्लादित कर रही है। विलास, आमोद-प्रमोद एवं विनोद का वातावरण है।

मृगापुत्र सहसा मुनि को देखकर गंभीर विचार में डूब गये। उन्हें ऐसा आभास हुआ कि मैंने ऐसी सूरत पहले कभी न कभी देखी है। यह सूरत बहुत प्यारी लगती है! मनन करते-करते उन्हें अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हो आया, अर्थात् जाति स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया।

मनुष्य मे विषयभोगों के प्रति जो प्रीति पाई जाती है, वह वास्तव में उसके जीवन में व्याप्त अज्ञान को सूचित करती है। अज्ञान के बिना जीव भोगों में अनुरक्त नहीं हो सकता, जब समो-

चीत ज्ञान का उदय होता है और मनुष्य अपने असली स्वरूप को समझ लेता है और यह जान लेता है कि आत्मा अनन्त अखण्ड आनन्द का धाम है और विषयसुख उसी स्वभाविक सुख का विकार है और घोर दुःख का कारण है, तो स्वभावतः उसे विषयों से विरक्ति हो जाती है। जब तक आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव से अनभिज्ञ है, तभी तक वह बाह्य पदार्थों मे सुख समझता है। जब आत्मा के असीम स्वाभाविक सुख का अक्षय खजाना उसे नजर आ जाता है तो बाह्य सुख उसे उपहासास्पद जान पड़ता है। उसे भोगना उसे नादान छोकरों का खेल-सा जान पड़ता है। वह कहता है—

वरं हालाहलं भुक्तं, विषं तद्भवनाशनम्।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवनाशनम्॥

अर्थात्—ज्ञानी पुरुष की आत्मा अन्दर ही अन्दर पुकारने लगती है कि हालाहल विष का भक्षण करना कदाचित् अच्छा हो सकता है, क्योंकि उससे उसी एक भव का नाश होता है, जिसमें विषभक्षण किया गया है। परन्तु यह भोगों का विष तो अनन्त भवों को बिगाड़ने वाला है। इसके सेवन से असंख्य और अनन्त बार मौत का शिकार होना पड़ता है। अतएव यह भोग-विष हालाहल विष की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक संहारक है।

इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होने पर विषयों से अनायास ही अरुचि उत्पन्न हो जाती है। मृगापुत्र के जो ज्ञान की प्राप्ति हुई तो उन्हें संसार का स्वरूप निराला ही नजर आने लगा। अब तक जो भ्रम था, वह दूर हो गया। वास्तविक तत्त्व उनके नेत्रों मे चमक उठा। उन्होंने अपनी स्त्रियों से तो कुछ नहीं कहा, उठकर

सीधे अपनी माता के पास पहुंचे। चरणों में प्रणाम करके बोले— माताजी ! संसार अत्यन्त कटुक है और मुझे वैराग्य प्यारा लगता है। मुझे आज्ञा दीजिए। मैं साधु बन कर आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ। मैं भोग भोगने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ। मेरे जो कर्म क्षय होने से बाकी बच गये हैं, उनका क्षय करने के लिए मैंने यह जन्म धारण किया है। तपस्या करने आया हूँ। अतएव आज्ञा दीजिए तो अपने जीवन का उद्देश्य पूर्ण करूँ।

ऐसे होते हैं भव्य और निकट-कल्याण जीव। देखिए, बैठे-बैठे ही वैराग्य हो गया। साधु के समीप गये नहीं, एक भी व्याख्यान सुना नहीं, किसी से प्रेरणा पाई नहीं और अचानक वैराग्य के रंग में रँग गये।

मगर माता तो ममता की मूर्त्ति होती है। उसने अपने पुत्र का विचार सुना तो दुखी हुई। वह बोली—बेटा, कमल को नाल से लोहा काढने का विचार मत करो। देखो, तुम्हारा शरीर कितना कोमल है ? तुम सुख में पले, सुख मे बड़े हुए और सुख मे ही रहे हो। सुख के सिवाय तुमने कुछ देखा नहीं है। इस सुकुमार शरीर से संयम का गुरुतर भार नहीं उठा सकोगे। संयम को पालना हँसी-खेल नहीं है। खांडे की धार पर चलना है। बड़ा ही कठिन मार्ग है साधु का। माता कहती है—

सीआले सी वाजसी रे, ऊनाले लू वाय।
चौमासे मैला कापड़ा रे, यो दुख सह्यो न जाय॥
रे जाया ! मत ले संयम-भार !

हे लाल ! साधु बनना बड़ा कठिन है। शीतकाल में कड़ाके की सर्दी पड़ती है, तब कई मनुष्य आग जलाकर तापते हैं, गर्म कपड़े

पहनते-ओढ़ते है और गर्म वस्तुओं का सेवन करते है, परन्तु साधुओं के पास उस सर्दी से बचने के लिए पूरे कपड़े भी नहा होते। सिर्फ तीन चादर होते हैं और उन्हीं से उन्हें काम चलाना पड़ता है। बेटा ! तुम कैसे उस सर्दी को सहन करोगे ?

और ग्रीष्म काल मे जोर दार लू चलती है, जिससे बड़ों-बड़ो के होश ठिकाने लग जाते हैं ! उस लू से कैसे अपने को बचाओगे ? चौमासे में शरीर कुचमुच-कुचमुच करने लगता है और डांस-मच्छरों का जोर ज्यादा हो जाता है। यह सब तकलीफे तू सहन न कर सकेगा। इसलिए मेरा कहना मान जा और साधु मत बन। अभी उमंग में आकर साधु बन जायगा और फिर कष्ट सहन न होंगे तो पश्चात्ताप करेगा। दोनो तरफ से जाएगा।

माता की ममत्व से भरो बाते सुन कर मृगापुत्र कहते हैं—

माता ! मै कैसे संयम पालूँगा, सो सुनो—

वन में माता मृगलो जी, कुण करे तेहनी जी सार,
मृगचर्या हूँ विचरसूं जी, एकलड़ो अनगोर।
ए माता ! अनुमति दो मोरी माय ॥

माता ! हिरण वन में रहता है और जब बीमार होता है तो कौन उसे पानी पिलाने और घास खिलाने आता है ? कौन उसकी साता पूछता है ? जब बीमारी से मुक्त होता है तो आप ही घास चरता है और आप ही पानी पीता है। मैं भी मृग की तरह ही एकाकी विचरण करने वाला साधु बनूँगा। जैसे मृग दवा का सेवन नहीं करता, उसी प्रकार मैं भी नहीं करूँगा। मै जिनकल्पी मुनिराज बनूँगा।

जिनकल्पी साधु जंगल में नग्न रहते हैं। जिस मकान में ठहरते है, उसके किवाड बंद नहीं करते। पैरों में चुभा हुआ कांटा नहीं निकालते। आंखों से रज नहीं निकालते। बीमारी में दवा नहीं लेते। उपदेश नहीं देते। चेला नहीं बनाते। उन्हें मालूम हो जाय कि लोग आएँगे और साधना में बाधा पड़ेगी तो विहार करके अन्यत्र चले जाते हैं। एक पात्र, मुखवस्त्रिका और रजोहरण रखते हैं। गर्म पानी मिल जाय तो उसे ठंडा नहीं करते। कंकरीली जमीन हो तो उसे साफ किये बिना ही उस पर सो जाते हैं।

मृगापुत्र कहते हैं—माता ! मैं ऐसा साधु बनूँगा !

बड़े रईस के बेटे थे। सुख के ठाठ थे। दुनिया के सभी उत्तम भोग- उपभोग के पदार्थ सुलभ थे। मगर जब सच्चा वैराग्य उत्पन्न हुआ तो सब छोड़ दिया। माता-पिता को भी आज्ञा देनी पड़ी। साधु बने और ऐसी उग्र तपस्या की कि उसी भव मे केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गए !

इसी सिलसिले मे मै आपबीती सुना दूं। विक्रम संवत् १९-५२ में मेरी दीक्षा हुई। मेरे गुरु महाराज श्री हीरालालजी बड़े ही निर्भीक साधु थे। संयम ग्रहण करने में मुझे बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी थी। गृहस्थावस्था के मेरे श्वसुर भी बड़े जबर्दस्त थे। वह कहते थे—मेरे पास दो नाली बंदूक है। जो इन्हें दीक्षा देगा उसे भून दूंगा। देखें कौन चेला बनाता है! मेरी माता दीक्षा की आज्ञा दे रही थीं, पर उनके डर से साधु घबरा जाते थे। सं. १९५२ में श्री नन्दलालजी म. का चौमासा था। हम दोनों माता-पुत्र उनकी सेवा मे वहाँ रहे। मैंने सामायिक-प्रतिक्रमण सीखा। उन दिनों श्री हीरालालजी म. ने कहा-हम तुम्हें दीक्षा देंगे। विहार करते-करते वे जावरा पधारे। वहाँ के लोगों ने डर के कारण कह दिया-यहाँ तो

दीक्षा नहीं देने देंगे। ताल में भी लोग भड़क गये। आवर गये तो वहाँ भी कुछ न हो सका। आखिर मैंने विचार किया–मुझे दीक्षा लेनी है और गुरु महाराज को देनी है। इसमें किसी और की आवश्यकता ही क्या है ? महोत्सव मनाने की भी क्या जरूरत है ? सिर्फ अनुमति चाहिए सो माताजी दे ही रही हैं। फिर विलम्ब पर विलम्ब क्यों किया जाय ? पात्र, ओघा, चोलपट्टा आदि सामग्री तैयार ही थी। मेरी माता ने मेरे शरीर पर गाती बाँधी और महाराज के सामने ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा–'लीजिए, दीक्षा दे दीजिए।

मेरी माता का कितना उपकार है मुझ पर ? उनकी हिम्मत कितनी जबर्दस्त थी ! मेरे श्वसुर कहते थे–याद रखना, मेरा नाम पूनमचन्द है ! माता कहती थी–आपको पूनम से अमावस बना कर दीक्षा दिला दूंगी।

मेरे दीक्षित हो जाने के बाद घर की झंझटें निबटाने के लिए दो महीने तक वे घर में रहीं। फिर उन्होंने भी जावरा में जाकर दीक्षा अंगीकार कर ली।

दीक्षा लेकर हम जावरा आए। वहाँ से झालावाड़ की ओर विहार किया तो रास्ते में एक गाँव आया। वहाँ गुरु महाराज ने कहा–'तू ही व्याख्यान सुना दो।' गुरु का आदेश मैंने अंगीकार किया। वही मेरा व्याख्यान देने का पहला मौका था। वहीं से व्याख्यान देने की शुरुआत हुई। उस दिन मैंने यही मृगापुत्र का चरित वर्णन किया।

आज मृगापुत्र का जिक्र आया तो जीवन की एक पुरानी घटना स्मरण हो आई।

भाइयो ! कहने का अभिप्राय यह था कि तिर्यञ्चगती में भी भयानक दुःख उठाना पड़ता है। यह बात मृगापुत्र ने अपने ज्ञान से जान ली थी। अतएव उन्होने संसार के विषयभोगों से विरक्त होकर संयम लिया, तपश्चरण किया और मोक्ष प्राप्त किया।

हे जीव ! पाप कर्म करने से तिर्यंचगति में जन्म लेना पड़ता है। तिर्यंचों में भी अनेक भेद हैं। कोई एकेन्द्रिय, कोई द्वीन्द्रिय, कोई त्रीन्द्रिय, कोई चतुरिन्द्रिय और कोई पचेन्द्रिय होते है। पचेन्द्रियों में भी कोई जलचर, कोई स्थलचर, कोई खेचर अर्थात् आकाश में उड़ने वाले, कोई उरःपरिसर्प और कोई भुजपरिसर्प होते है।

जल में रहने वाले मगर, मच्छर, कच्छ आदि जलचर तिर्यंच कहलाते हैं। उन्हे भी मनुष्य मार डालते है। मगर छोटी-छोटी मछलियों को खा जाता हैं। आकाश में उड़ने वाले पक्षियो को भी मनुष्य बंदूक का निशाना लगाकर मार डालते हैं और खा जाते है।

हम जोधपुर से आ रहे थे तब हमने देखा—। वहाँ खारड़ों का तालाब है। वहाँ जल के जानवर, जो मछली खा जाते हैं, उड़ रहे थे ! किसी ने उन्हे बंदूक से मारडाला। वे धड़ाम से जमीन पर गिर पड़े। उनमें से एक के मुँह में से जीवित बड़ी मछली निकल पड़ी। इस प्रकार बड़े मच्छ छोटी मछलियो को खा जाते है। जानवर जानवरों को खा जाते हैं।

बनारस की घटना है। वहाँ के निवासी दो ब्राह्मण थे उनमें से एक ने कहा—आत्मा का उद्धार कैसे होगा ? ऐसा विचार करते-करते वह ब्राह्मण एकान्त में गया और एक वृक्ष के नीचे उदास होकर बैठ गया।

उसी समय उधर से एक मुनि आ निकले। मुनि को देख

कर ब्राह्मण उनके चरणों मे गिर पड़ा और कहने लगा-भगवन् ! मेरा उद्धार कैसे होगा ?

मुनि ने गंभीर भाव से कहा-हे ब्राह्मण ! तेरा उद्धार तू ही करेगा। कोई किसी का उद्धार नहीं कर सकता। कहा भी है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम् ।

अपने द्वारा ही अपना उद्धार करना होगा।

आत्मोद्धार का यह प्रेरणापूर्ण मंत्र पाकर ब्राह्मण की अन्तर्ज्योति जाग गई। एक नया आलोक उसके सामने चमक उठा। सोचा-बात कितनी छोटी है, पर कितनी मार्मिक है ! आत्मा स्वयं ही अपने पतन का कारण बनती है तो स्वयं ही अपना उद्धार भी कर सकती है। उद्धार के लिए अपनी शक्तियों को चैतन्य बनाना चाहिए।

यह सोच कर ब्राह्मण तत्काल दीक्षित होकर साधु बन गया। जिस दिन उन्होंने मुनिदीक्षा अंगीकार की, उसी दिन से मासखमण की तपश्चर्या आरंभ कर दी। उस विकट तपस्या के प्रभाव से उन्हें विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होगया।

उधर उनके छोटे भाई ने बहुत खोज की, पर बड़े भाई का कहीं पता न लगा। जब वह दीक्षित हुए थे तो कपड़े और जूते गंगा के किनारे ही छोड़ दिये थे। छोटे भाई को वह मिले। उनसे उसने समझ लिया कि भाई को मगर--मच्छ निगल गया होगा। ऐसा समझ कर उसने सब मृतककृत्य कर डाले। फिर उनके नाम पर एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। यज्ञ के अवसर पर बड़े-बड़े पण्डित इकट्ठे हुए। जब यज्ञ हो रहा था तभी संयोगवशात् जय-

घोष मुनि भी विहार करते-करते उधर जा निकले। देखा, यज्ञ का अनुष्ठान चल रहा है।

मुनिराज ने ब्राह्मणों से पूछा—ब्राह्मणों! नक्षत्रों का मुख कौन है? और धर्म का मुख कौन है?

ब्राह्मण—आप ही बतलाइए।

मुनि—सुनो। नक्षत्रों का मुख चन्द्रमा है और धर्म का मुख ऋषभदेव भगवान् हैं।

इस प्रकार कहकर मुनि जयघोष ने ब्राह्मणों को उत्तम ज्ञान दिया। उसे सुनकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे-मुने! यज्ञ का भोजन लीजिए।

मुनि ने कहा—मैं यहाँ भोजन के लिए नहीं आया हूँ। जिसके निमित्त यज्ञ किया है, वही मैं तुम्हारा भाई यहाँ जीवित उपस्थित हूँ। धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझो। मैं तुम्हारा उद्धार करने आया हूँ। समझो, सोचो और धर्म के पथ पर चलने को उद्यत हो ओ। गीली मिट्टी का गोला दीवाल पर फैंका जाय तो वहीं चिपक जाता है, मगर सूखी रेत नहीं चिपकती। भाई! तू चिकनी मिट्टी की तरह संसार से चिपका है, अतः संसार में फँस जाएगा। रेत के समान बनेगा तो संसार से निकल जाएगा।

छोटे भाई को भी वैराग्य हो गया। उसने दीक्षा धारण कर ली। उसने भी महीने-महीने की तपस्या की। दोनों बन्धुओं ने ऐसी तपश्चर्या की और ऐसी अन्तर्ज्योति जगाई कि अन्त में निरंजन निराकार पदवी प्राप्त कर ली।

भाइयो! पाप करने वाला आत्मा स्वयं ही अपने पापों का फल भोगता है और जो धर्म का आचरण करता है, वह स्वयं

धर्म का सुफल पाता है। इस प्रकार आत्मा स्वयं ही अपने उत्थान और पतन का कारण है; स्वयं ही समृद्धि सिद्धि प्राप्त करता है, स्वयं ही नरक का निर्माण करता है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य। दुहाण य सुहाण य।

आत्मा स्वयं ही अपने भले-बुरे का कर्त्ता-हर्त्ता है। मगर सम्यग्ज्ञान के विना यह सब बातें समझ में नहीं आतीं अतः तत्त्व का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। तत्त्वज्ञान के जितने साधन मनुष्यजन्म में सुलभ हैं, उतने अन्य जन्म में नहीं और मनुष्य जन्म में जितना अधिक ज्ञान का विकास हो सकता है, उतना अन्यत्र नहीं। ऐसी स्थिति में जो मनुष्यभव पाकर भी तत्त्व ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा वह फिर कब करेगा? और जो ज्ञान प्राप्त नहीं करेगा वह अपने स्वरूप को कैसे समझेगा? ज्ञान के अभाव में कठिन क्रिया भी कार्यकारी नहीं होती। ज्ञान के प्रकाश के अभाव में सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है। इसी कारण शास्त्रकारों ने स्पष्ट शब्दों में यह आदेश दिया है कि सबसे पहले ज्ञान प्राप्त करो और फिर चारित्र का अनुष्ठान करो। जिन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं है, वे चारित्र के नाम पर सावद्य क्रियाएँ करके आत्मा का उलटा अहित कर लेते हैं। जो यह भी नहीं समझते कि आत्मा का सच्चा स्वरूप क्या है? क्यों उसमें विकृति आई है? कैसे उसे दूर किया जा सकता है? उनकी साधना सही रास्ते पर नहीं चलती। अतएव अगर आप समस्त दुःखों से मुक्ति चाहते हैं दुनिया के झगड़े-झंझट छोड़ो

और तप-त्याग को अपनाओ ऐसा न किया और आरंभ-परिग्रह में ही समस्त जीवन व्यतीत कर दिया तो फिर नरक-निगोद का मार्ग तैयार है, जहाँ यह जीव अनन्त वार जा चुका है और अनंत यातनाएँ भोग चुका है। इस वार आपको अच्छा अवसर मिला है। इसे मत खोओ और आत्मा का कार्य सिद्ध कर लो। वीतराग भगवान् द्वारा प्ररूपित मार्ग पर आपकी श्रद्धा हुई है तो उसे अमल में ले आओ। उसके अनुसार अपना व्यवहार बना लो। इससे तुम्हें आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर
६-१०-४७



आत्मा का स्वरूप

स्तुति:—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धाताऽसि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अनन्तशक्तिमान् पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ?

हे महाप्रभो! आपने परिपूर्ण केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय स्वर्ग से आकर देवों ने ज्ञानकल्याण-महोत्सव किया। आपके ज्ञान की भावपूर्वक पूजा की। अतएव आप सच्चे बुद्ध हैं। यद्यपि

शुद्धोदन के पुत्र सुगत भी बुद्ध कहलाते हैं, पर वे क्षणिकवादी हैं। वे तात्त्विक महत्व के प्रश्नों पर मौन ही रहे। आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म, सिद्ध, सिद्धि आदि के संबंध में उन्होंने अपना कुछ भी मन्तव्य प्रकट नहीं किया। जब उनसे इस संबंध में किसी ने प्रश्न किया तो उन्होंने टाल दिया। इस कारण उनमें पूर्ण बोध की संभावना नहीं की जा सकती। अतः बुद्ध भगवान ऋषभदेव ही हैं।

प्रभो! आप ही शंकर हैं, क्यों कि आप संसार को सच्चे सुख का पथ प्रदर्शित करने वाले हैं। कई लोग शंकर को सृष्टि का संहार करने वाला कहते हैं, किन्तु वे मतलब संहार करने वाला शंकर नहीं कहला सकता। अनन्त, अक्षय, अव्याबाध सुख देने वाला ही शंकर है। यह विशेषता भगवान् आदिनाथ में पाई जाती है।

प्रभो! आप धाता-विधाता-ब्रह्मा हो, क्यों कि आपने मोक्ष-मार्ग का विधान किया है। इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में जब धर्म तीर्थ प्रचलित नहीं था, लोग मोक्ष के मार्ग से सर्वथा अनभिज्ञ थे, उस समय आपने ही सर्वज्ञता प्राप्त करके मोक्षमार्ग का निरूपण किया। अतएव आप ही ब्रह्मा या विधाता हैं। कई लोग सृष्टि रचने वाले को ब्रह्मा कहते हैं, मगर सृष्टि अनादिकाल से है और उसकी रचना कभी होती नहीं! अतएव ब्रह्मा का वह स्वरूप तर्क और अनुभव दोनों से असगत है। इस संबंध में विशेष विवरण पहले किया जा चुका है।

प्रभो! आप पुरुषोत्तम भी हैं। पुरुषों में जो श्रेष्ठ हो वह पुरुषोत्तम कहलाता है। भगवान् ऋषभदेव अपने युग के अद्वितीय लोकोत्तर महापुरुष थे। अतएव उनका पुरुषोत्तम होना तो स्वतः सिद्ध ही है।

ऐसे भगवान् श्री ऋषभदेव है। उन्हे हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भव्य पुरुषो ! जगत् में नाना मत और पंथ है। उन सब ने अपने अपने देवताओं के अलग-अलग नाम कायम किये है और उन्हीं नामों से वे उनकी उपासना करते हैं। यही नहीं, वे दूसरे देवों के नाम से चिढ़ते भी हैं और उन्हें भला-बुरा कहने लगते हैं। किन्तु तत्त्वज्ञानी और समभावी सन्त पुरुष नाम के झगड़े में कभी नहीं पड़ते। वे गुणों को देखते हैं और गुणों को ही देवत्व की सच्ची कसौटी मानते है। जिन गुणों के कारण किसी को देव माना जाता है, वे गुण जिसमें हैं, वही सच्चा देव है, फिर उसका नाम कुछ भी क्यों न हो। ऐसे ही एक भक्त ने कहा है—

भवबीजांकुरजनना, रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनोवा नमस्तस्मै॥

अर्थात्—जन्म-मरण के बीजों के अंकुर उत्पन्न करने वाले राग, द्वेष, काम, क्रोध मोह आदि विकार जिसकी आत्मा में से सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, अर्थात् जो पूर्ण रूप से वीतराग हो चुका है उसी पूर्ण पुरुष को मेरा नमस्कार है, चाहे उसे ब्रह्मा कहो, विष्णु कहो, हर कहो अथवा जिन कहो या किसी अन्य नाम से पुकारो। तात्पर्य यह है कि सन्त जन गुणों की पूजा करते हैं, नाम की नहीं। जिसमें गुण है, वही पूजा का पात्र है। 'गुणाः पूजा-स्थानम्'।

जगत् में जैसे उपास्य देव अनेक हैं, उसी प्रकार मतमतान्तर भी अनेक है। उनकी मान्यताएँ परस्पर विरोधी है। उदाहरणार्थ—बुद्ध मज़हब क्षणिकवादी है और कपिल आदि कई ऋषि नित्यवादी

हैं। बौद्ध मत की मान्यता के अनुसार आत्मा का क्षण--क्षण में नाश होता रहता है। नित्यवादी कहते हैं--नहीं, ऐसा नहीं है। आत्मा नाश शील नहीं, एकान्त नित्य है। इस प्रकार अनित्यवादी खण्डन करता है नित्यवादी का और नित्यवादी निषेध करता है अनित्यवादी का।

किन्तु जैन कहता है--इस खंडन--मंडन मे कोई तथ्य नहीं है, क्योंकि तुम दोनो ही चित्र का एक-एक पहलू देखते हो और दूसरे पहलू का निषेध करते हो। इस प्रकार अपने एक देशीय दर्शन के कारण ही परस्पर वादविवाद करते हो। वास्तव में आत्मा में दोनों प्रकार के धर्म विद्यमान हैं, अतएव क्षणिकवादी भी सत्य कहता है और नित्यवादी भी सत्य कहता है। उनमें जो असत्यता है, वह यही है कि वे एक दूसरे को असत्य कहते हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार है—

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
तसा य जे थावर जे य पाणा।
से निच्चनिच्चेहि समिक्ख पन्ने,
दीवे व धम्मं समियं उदाहु॥

देखो, ऊर्ध्व लोक, अधोलोक और तिर्छे लोक में दो प्रकार के संसारी जीव रहते हैं--त्रस और स्थावर। चलने-फिरने वाले द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं और मिट्टी पानी अग्नि हवा और वनस्पति के जीव स्थावर कहलाते हैं। इन जीवों को एक नित्य मानता है और दूसरा अनित्य कहता है। किंतु भगवान् जिनेन्द्र कहते हैं--प्राणी मात्र नित्यानित्य है, अर्थात् नित्य

भी और अनित्य भी है। तुम दोनों लड़ो मत। एक दूसरे की बात समझ लो और समझ कर स्वीकार कर लो। झगड़ा मिट जायगा। दोनों मिल जाओगे तो आत्मा नित्यानित्य मालूम होने लगेगी।

कहा जा सकता है कि नित्यपन और अनित्यपन तो परस्पर में विरोधी धर्म है। वे दोनों एक ही वस्तु में--आत्मा में किस प्रकार पाये जा सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि दरअसल दोनों में विरोध नहीं है, वे विरोधी--से मालूम होते हैं। भिन्न--भिन्न अपे--क्षाओं से विचार किया जाय तो विरोध के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। अजमेर ब्यावर से पास है और दिल्ली से दूर है। इस प्रकार दोनों ही बातें एक अजमेर में घटित होती है। समीपता और दूरी भी नित्यता--अनित्यता के समान विरोधी जान पड़ती है, परन्तु ब्यावर की अपेक्षा समीपता और दिल्ली की अपेक्षा दूरी कहने पर विरोध नहीं रह जाता। हाँ एक ही अपेक्षा से दोनों बातें कही जाएँ तो अवश्य विरोध होता है। जिस अपेक्षा से नित्यता है उसी अपेक्षा से अनित्यता है, ऐसा माना जाय तो विरोध होगा। परन्तु जैसे अपेक्षा की भिन्नता से अजमेर में समीपता भी है और दूरी भी है, उसी प्रकार अलग--अलग अपेक्षाओं से वस्तुओं में नित्यता भी है और अनित्यता भी है।

आत्मा किस अपेक्षा से नित्य है और किस अपेक्षा से अनित्य है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आत्मा द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। आत्मा भूतकाल में था, वर्त्तमान में है और भविष्य में रहेगा। किसी भी समय उसकी नास्ति होने वाली नहीं है। वह चाहे मनुष्य हो, चाहे पशु पर्याय में जाय अथवा नरक--निगोद की हालत में रहे, उसका अस्तित्व बराबर कायम रहता है। उसके असंख्यात प्रदेशों में से एक भी प्रदेश कभी कम

नहीं हो सकता। अतएव आत्मा नित्य है। परन्तु आत्मा की पर्याय सदा समान नहीं रहते। वे सदैव पलटते रहते है। इस कारण आत्मा अनित्य भी है।

देखिए, बालकपन अनित्य, युवावस्था अनित्य और जरा-वस्था भी अनित्य है। शरीर ही अनित्य है। किसी नित्यवादी बूढ़े से पूछिए-आपकी जवानी कहाँ गई? अगर जवानी नित्य था तो मकान की तीन--चार सीढ़ियाँ एक साथ लाँघना कैसे भूल गये? जवानी का वह अल्हड़पन कहाँ गया? कहा है—

जीवन का सौन्दर्य सुनहरा शैशव कहाँ गया रे?
आँधी—सा मदमाता यौवन भी तो चला गया रे!
अर्धमृत्युमय वृद्धपन भी जाने को आया है,
हा! सारा जीवन ही जैसे बादल की छाया है।

यह परिवर्त्तन जो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, मिथ्या नहीं है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से आत्मा में और साथ ही अन्य सब वस्तुओं में भी नित्यता तथा अनित्यता घटती हैं। मगर एक अंश को पकड कर बौद्ध कहता है-आत्मा अनित्य है। किन्तु आत्मा अनित्य नहीं है, शरीर अनित्य हैं। जो शरीर को ही आत्मा मान बैठा है वही ऐसा कहता है कि आत्मा अनित्य है। अगर आत्मा अनित्य होती तो बचपन की बात जवानी में याद न रहती, जवानी की बात वृद्धावस्था में याद न आती। अगर क्षणिक होती तो एक क्षण पहले की बात दूसरे क्षण में स्मरण न आती।

मान लीजिए, किसी ने किसी से हजार रुपया उधार लिया। चार-छह महीने बाद माँगने वाला आया। उसने कहा–'भाई, चार

महीने पहले आपने जो रकम ली थी, अब वह लौटा दीजिए।' तब रकम लेने वाला कहता है—'संसार के सब पदार्थ क्षणविनश्वर हैं। बुद्ध भगवान् का आदेश है कि कोई भी वस्तु एक क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती। अतएव रुपया देने वाला, रुपया लेने वाला और लिया हुआ रुपया सब उसी समय समाप्त हो गये। अब न देने वाला बचा, न लेने वाला रहा और न वह रुपया ही शेष रहा। सब समाप्त हो गये-काल के गाल में समा गये! तुम दूसरे हो और मैं दूसरा हूँ।'

कहिए, अब रुपया मांगने वाला क्या उत्तर देगा? अगर वह भी बौद्ध धर्म का अनुयायी है और आत्मा को अनित्य-क्षणिक मानता है तो फिर उसे अपनी रकम से हाथ धोना ही पड़ेगा।

किसी ने किसी की नाक मसल दी। जिसकी नाक मसली गई है, वह मसलने वाले से लडता है और बदले मे मार-पीट करने को तैयार हो रहा है। मसलने वाला कहता है—भाई, मुझसे वृथा क्यों लड़ते हो। नाक मसलने वाला नष्ट हो गया और जिसकी नाक मसली गई थी, वह भी नहीं रहा। तुम-हम दोनों दूसरे हैं। फिर क्यों मुझसे लड़ते हो?

यदि क्षण-क्षण में आत्मा का नाश मान लिया जाय तो संसार की समस्त व्यवस्था, जगत् के सब व्यवहार और कृत कर्मो के फल भोगने आदि की सारी प्रक्रिया गड़बड़ में पड़ जाय! आज किसी से किसी का विवाह हुआ। विवाह होते-होते कई बार वर-वधू की आत्माएँ बदल गईं। जिनका विवाह संस्कार हुआ था, वे नहीं रहे। जो वर्तमान में हैं, उनका विवाह नहीं हुआ। ऐसी हालत में कौन किसके प्रति वफादार रह सकेगा? किसके प्रति किसका उत्तरदायित्व रहेगा? अपराध करने वाले को कैसे दंड

दिया जा सकेगा ? क्यों कि अपराधी अपराध करते-करते ही नष्ट हो जाता है और जिसे दंड दिया जाता है वह निरपराध होता है। इस प्रकार सारी न्यायव्यवस्था भी समाप्त हो जाती है। अभिप्राय यह है कि क्षणिकवाद में न तो लौकिक व्यवस्था ठीक बैठ सकती है और न लोकोत्तर व्यवस्था ही। उसमे तो घर बनाने वाला और है, रहने वाला और है। कोई किसी का स्वामी नहीं। कोई किसी भी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं। अतएव इन सब दोषों से बचना है तो आत्मा को क्षणिक नहीं मानना चाहिए।

वास्तव में आत्मा नित्य है। जो आत्मा बाल्यावस्था में थी, वही युवावस्था में है और वही वृद्धावस्था में भी होगी। यही नहीं, इस जन्म की आत्मा ही शरीर त्याग कर पर जन्म ग्रहण करेगी और उस जन्म के पश्चात भी फिर नया जन्म धारण करेगी। इस प्रकार स्थायी आत्मा अनादि काल से पुनः पुनः जन्म-मरण कर रही है और अपने शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल भोग रही है।

कोई कह सकता है कि अगर आत्मा नित्य है और पुनर्जन्म धारण करती है तो पूर्व जन्म की घटनाएँ याद क्यों नहीं आतीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि काच में सब कुछ मूर्त्त पदार्थ दिखाई देते हैं, लेकिन उसमें कीट लगा हो—मैल जमा हो तो कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा में अनन्त भूतकाल को और साथ ही अनन्त अनागतकाल को जानने की शक्ति विद्यमान है, परन्तु पुण्य-पाप का कीट लग जाने के कारण पूर्व जन्म की बात याद नहीं रहती। पूर्व जन्म की बात भी छोड़िए, इतना भी याद नहीं रहता कि सावन वदि अष्टमी को क्या तरकारी खाई थी ? किन्तु जिनकी आत्मा का मैल सर्वथा धुल जाता है या कम हो जाता है, उन्हें पूर्व जन्म की बातें भी मालूम हो जाती हैं।

पूर्वजन्म की घटनाएँ स्मरण होने के अनेक वृत्तान्त जब तक प्रकाश में आते रहते हैं। उनमें से एक घटना यों है—

हम विहार करते-करते कांधले आए। वहाँ बाजार मे व्याख्यान दिया। वहाँ एक एम. ए. एल-एल. बी. वकील अपने लड़के को साथ लेकर मेरे पास आए और नमस्कार करके बैठ गये। फिर उन्होंने कहा-महाराज! क्या इस बच्चे का जिक्र सुनाऊँ? वे कहने लगे-जब यह पाँच-सात वर्ष का हुआ तो हमारे पास बैठा हुआ था। सूर्य अस्त हो चुका था बल्कि कुछ-कुछ रात्रि हो चली थी। बैठे--बैठे अचानक ही इसने रोना आरंभ कर दिया। पहले किसी प्रकार की अस्वस्थता नहीं थी। किसी रोग का कोई असार नहीं था। अतएव अचानक रोना देख कर हमें विस्मय हुआ। हमने पूछताछ की। इसकी माता दौड़ी आई और उसने भी पूछा--बच्चे, क्यों रो रहा है? क्या कहीं कुछ दुखता है? मगर इसने कुछ भी नहीं बतलाया और रोता ही रहा।

जब यह कुछ भी न बतला कर रोता रहा तो हमने उचित समझा कि इसे छेड़ा न जाय और थोड़ी देर रो लेने दिया जाय। इससे दिमाग हल्का हो जाएगा।

पर यह करीब पहर भर रोता रहा। बाद मे रोता--रोता एकदम घर के बाहर भागा। हम लोग भी इसके पीछे दौड़े। वहाँ बैठे दो--चार जन भी हमारे साथ हो गये। यह भागता हुआ गाँव के बाहर गया और जमना पार करने के लिए जो पुल बना था, उस पर रवाना हुआ।

तब हम लोग पकड़ कर उसे घर लाने लगे। इसने कहा--मुझे क्यों पकड़ते हैं आप? मैं अपने पुराने घर जा रहा हूँ। मैंने पूछा--'कहाँ है तेरा घर?'

यह बोला--मैं पहले अग्रवाल के घर मे था। वहाँ से मर कर यहाँ जन्मा हूँ। अतएव अपने घर जाता हूँ।

मैंने पूछा--तेरे घर पर कौन--कौन हैं ?

इसने कहा--मेरी पत्नी है, मेरे बच्चे हैं, गाय--भैंस है, जमीन है। यह कह कर स्त्री आदि की हुलिया भी बतलाई और सारा जिक्र सुना दिया।

हम इसे पकड़ कर घर ले आए और तसल्ली दी कि--ठहरो, हम तुम्हारी स्त्री को यहीं बुलाये देते है।

आखिर वह स्त्री घोड़े पर सवार होकर आई। उसे देखते ही उसने बतला दिया कि यही मेरी स्त्री है।

लड़के ने उससे पूछा—मैंने अमुक जगह जेवर गाड़ा, वह निकाल लिया या नहीं ? और फलां-फलां बात करली या नहीं ?

यह सब सुनकर वह बेचारी रोने लगी और कहने लगी—इन्हें हमे दे दो। मगर अपने पुत्र को कौन दे सकता है इस तरह ? आखिर वह चली गई और उसने इसको दूध पीने के लिए भैंस भेजी।

अन्त में वकील साहब ने कहा—महाराज ! इसने जो बातें बतलाई थी, वह सब सच निकलीं।

गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले प्रसिद्ध मासिकपत्र 'कल्याण' में एक वृत्तान्त प्रकट हुआ था। वह इस प्रकार है—

फ्रांस में एक धनवान् व्यक्ति की लड़की बीमार हुई और ऐसी बीमार हुई कि बेहोश हो गई। ऐसा मालूम हुआ कि मर गई है। मगर शरीर में गर्मी होने से कुछ समय तक दफ़नाने से रोकी

गई और उसका इलाज कराया गया। वह अच्छी हो गई। मगर उसके जीवन मे एक बड़ा अद्भुत और आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। वह फ्रेंच भाषा को, जो उसकी मातृ भाषा थो, भूल गई और दूसरे बारह देशों की भाषाएँ, जैसे अंगरेजी, जर्मन, जापानी, चीनी आदि उसे याद हो गई। इस घटना की जाँच-पड़ताल करने के लिए कई डाक्टर इकट्ठे हुए उन्होंने जाँच करके यह परिणाम निकाला कि बुद्धि के कई पर्दे हैं। उनमें से फ्रांस की भाषा संबंधी बुद्धि का पर्दा आ गया और बाकी भाषाओ के पर्दे हट गये है! वास्तव में वे डाक्टर पूर्व जन्म के संस्कारों की बात समझते ही नहीं थे, इसी कारण उन्होंने यह परिणाम निकाला।

हमने एक बार आगरा मे चौमासा किया। वहाँ एक अग्रवाल की लड़की पास के मकान के एक लड़के को देखकर जोर-जोर से रोती थी। उससे रोने का कारण पूछा जाता था तो कहती थी—यह मेरे पूर्व जन्म का भाई है।

इसी प्रकार आगरा में मैंना नामक एक छोकरी थी। वह चार-पाँच वर्ष की थी। जब उसकी माता उसे तंग करती तो वह कहती थी—मुझे तंग मत कर। नहीं तो मेरे बटुए मे बहुत-से रुपये है, सो मैं उन्हे ले आऊँगी।

जब उससे बटुए के संबंध मे पूछा जाता तो वह कहती—पहले मै शेख जाति की मुसलमान थी। मेरे दो लड़के थे और दोनों की बहुएँ थी। एक दिन में पानी भरने गई तो एक बहू मेरे साथ थी। किसी बात पर उससे झगड़ा हो गया और उसने मुझे नदी में धकेल दिया। मैं मर गई और यहाँ आकर जन्मी।

परीक्षा के लिए उससे पूछा गया—कोई पहले जन्म का

मुसलमानी इल्म याद है ? तब उसने कहा—हाँ नमाज याद है। और फिर उसने बाकायदा नमाज़ पढ़ कर सुना दिया।

भाइयो ! अगर आत्मा देह त्याग कर पुनर्जन्म ग्रहण न करती तो यह सब घटनाएँ कैसे घटित होतीं ? यह घटनाएँ तो प्रत्यक्ष हैं और समय-समय पर घटती रहती हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा है और वह नित्य है। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्रों को धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़ कर नवीन शरीर को धारण कर लेती है। वस्त्र बदल जाने पर भी मनुष्य वही का वही रहता है, वस्त्र के साथ बदल नहीं जाता, इसी प्रकार शरीर बदल जाने पर भी आत्मा वही का वही रहता है। वह बदल नहीं जाता।

यहाँ कोई कह सकता है कि आत्मा नित्य है तो उसे एकान्त नित्य ही मानना चाहिए। फिर नित्य के साथ अनित्य भी क्यों मानते हैं ? किन्तु इसका कारण मैं बतला चुका हूँ। पर्याय की दृष्टि से नित्य माने बिना काम नहीं चल सकता। एकान्त अनित्य मानने पर जो बाधाएँ आती हैं, वही सब एकान्त नित्य मानने पर भी आती हैं।

एकान्त नित्य मानने का अभिप्राय यह है कि आत्मा में लेश मात्र भी कभी परिवर्त्तन न हो और वह सदैव एक रूप ही बना रहे। मगर ऐसा होता नहीं। वह एक गति से दूसरी गति में, एक योनि से दूसरी योनि में और एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाता रहता है। आत्मा का सदैव एक ही पर्याय रहे तो वह अपने किये शुभ या अशुभ कर्मों का फल कैसे भोगेगी ? जो मनुष्यपर्याय में है, वह सदा मनुष्यपर्याय में ही बनी रहे, जो पशु है उसे हमेशा पशु के रूप में ही रहना पड़े और जो एकेन्द्रिय है, उसे सदा एके-

न्द्रिय रूप में ही बना रहना पड़े, तो फिर अशुभ-शुभ कर्म करना वृथा हो जाएगा। फिर तो निर्धन सदा निर्धन, श्रीमन्त सदा श्रीमन्त, रोगी सदा रोगी और निरोग सदा निरोग ही रहेगा। मगर इस प्रकार की स्थिति प्रत्यक्ष से बाधित है। अतएव आत्मा के पर्यायों में परिवर्त्तन मानना भी तर्कसंगत है, अनिवार्य है।

इस प्रकार आत्मा द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। अगर एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी इस तथ्य को समझलें और अपने अपूर्ण मन्तव्य को पूर्ण करले तो विवाद का अन्त आ जाएगा और वस्तु के स्वरूप का वास्तविक निरूपण भी हो जाएगा।

भाइयो! आत्मा का यह असली स्वरूप आपको अवश्य समझना चाहिए। इसे समझे बिना आप जैन होते हुए भी जैनत्व का आनन्द नहीं उठा सकते। अगर आप आत्मा के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझेंगे तो आपको भूत लग जाएगा। जानते हो वह भूत कौन-सा है? वह है मिथ्यात्व का भूत! जानकारी नहीं होगी तो मिथ्या धारणाओं के चक्कर में फँस जाओगे और इस जीवन को अपने अधःपतन का कारण बना लोगे। अतएव आत्माको पहचानो और समझो कि आत्मा नित्य है, अविनाशी है और अखण्ड है। फिर भी कर्मों के योग से इसे पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। एक जगह से दूसरी जगह जाना पड़ता है और दूसरी जगह से तीसरी जगह जाना पड़ता है। इस प्रकार अनादि काल से यह परम्परा चल रही है। अतएव यह शरीर अनित्य है और आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है।

हे भाई बहिनो! इन बारीक बातों को अवश्य समझने की कोशिश करो। बहिनें अगर समझदार हैं तो अपने पति, पुत्र और

भाई से कहे कि मुझे तो घर–गृहस्थी के काम से अवकाश नहीं मिलता, लेकिन तुम क्या करते हो ? जाओ जानकारों के पास और ज्ञान की बातें लेकर आओ और फिर हमें भी समझाओ। समझदार महिला अपने पति से क्या कहती है, जरा ध्यान देकर सुनिए—

पियाजी ! सत्संग में जाओ,
सत्संग से ब्रह्मज्ञान सिखकर
म्हाने समझाओ ॥ टेर ॥

विवेकवती बाई घर-गृहस्थी के अपने उत्तरदायित्व को यतना के साथ निभाती है, परन्तु वह पूरी तरह उसी में नहीं रच-पच जाती। वह आत्म कल्याण की ओर भी लक्ष्य रखती है। वह अपने परिवार में धर्ममय वातावरण बनाने का प्रयत्न करती रहती है। अपने परिवार वालों को धर्माचरण करने की प्रेरणा करती है। वह पति से कहती है—'पतिदेव ! संसार के झगड़े कभी पूरे होने वाले नहीं हैं। इन्हें बढ़ाया जाय तो बढ़ते जाते हैं और घटाओ तो घटते जाते हैं। यह तो अपनी अभिलाषा और तृष्णा पर अवलंबित है। दुनियावी झंझटें बढ़ाने से इतनी अधिक बढ़ सकती हैं कि मनुष्य पूरी तरह उनमें फँस जाय और निरन्तर आकुल-व्याकुल बना रहे। ऐसी स्थिति समग्र जीवन इन्हीं झंझटों में पूरा हो जाता है और अन्त में कुछ भी हाथ नहीं आता। अतएव ऐहिक धंधों के साथ हमें परलोक संबंधी सामग्री जुटाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए सत्संग करना आवश्यक है। सत्संग सद्‌ज्ञान और सदाचार प्राप्त करने का प्रधान साधन है। आप सत्संग करके ज्ञान प्राप्त करेंगे तो मुझे भी उससे कुछ लाभ हो जाएगा और आप का और मेरा संबंध सिर्फ लौकिक न रहकर धार्मिक भी हो जाएगा।

दाम्पत्य संबंध भोग भोगने की सुविधा के लिए नहीं है। इस संबंध की सार्थकता इस बात में है कि पत्नी, पति के धर्मानुष्ठान मे सहायक बने और पति, पत्नी को आत्मा के उत्थान में सहायक प्रदान करे। इस प्रकार स्त्री और पुरुष को एक दूसरे के धर्म में सहायक होना चाहिए। यही आदर्श दाम्पत्य संबंध है। इसी में मानव जीवन और सत्कुल की साथकता है। भोगमय पाशविक जीवन के रूप में मनुष्य जीवन बर्बाद करना न उचित है और न भविष्य के लिए मंगलमय है। इस जीवन को भविष्य के मंगल का आधार बना लेना ही बुद्धिमत्ता है।

हाँ, तो पत्नी कहती है–प्रिय ! आप सत्संगति में जाइए और वहाँ से ब्रह्मज्ञान लाइए और मुझे भी समझाइए। आपका निमित्त पाकर मैं भी तत्त्वज्ञान का आनन्द प्राप्त करना चाहती हूँ। क्योंकि—

ब्रह्मज्ञान के बिना जमारो, पशुओं ज्यों जानो।
सत जगत में कतरो ऊँडो, जिसको पहचानो ॥ १ ॥

भाइयो ! आपकी घर वाली ने भी कभी आपको ऐसी प्रेरणा दी है ? बेचारी दे तो कैसे ? आप लोग इन बहिनों को घने अंधकार में रखते हैं। कदाचित् उनके सामने थोड़ी-सी चमक होती भी है तो वह सिर्फ आभूषणों की ही होती है। मगर वह चमक उलटी आत्मा की चमक को दबाने वाली है, बढ़ाने वाली नहीं। आप उनके सामने कभी ज्ञान की रोशनी नहीं जगाते। परिणाम यह होता है कि उन में इतनी जागृति नहीं है कि वे आपको प्रेरणा दे सकें। इस प्रकार उनके द्वारा प्रेरणा न मिलने से आप प्रमादशील हैं और आपके द्वारा प्रेरणा न पाकर वे अशक्त और असमर्थ हो रही हैं। दोनों का जीवन चैतन्यहीन और सुषुप्त हो रहा है।

भाइयो ! अभी तक आपने कोरा पानी ही पानी पिया है, अमृत नहीं पिया है। अमृत पी लेते तो अमर हो जाते। आपने छाछ ही चखा है, मक्खन नहीं चखा। ब्रह्मज्ञान के बिना मनुष्य जन्म जानवर के समान है। ज्ञानहीन मानव का जीना किस मतलब का ? आप में से कई भाई आते है और चले जाते हैं, लेकिन कभी यह भी जानने का प्रयत्न किया कि सत्य कितना गहरा है ! सत्य की खोज मे गहराई तक गये या बाहर ही बाहर चक्कर काटते रहे ? गहराई में गोता लगाते तो मज़ा आ जाता। ब्रह्मानन्द के सामने ससार के सर्वोत्कृष्ट सुख भी तुच्छ हैं, अति तुच्छ हैं; उपहासास्पद है।

विवेकवती कोई बहिन अपने पति से कहती है–प्रिय ! जरा ब्रह्मज्ञान सीखो और मुझे सिखाओ। उस ज्ञान के आलोक में आपका और हमारा जीवन आदर्श हो जाएगा। यह बाहर की चमकदमक जीवन ज्योति को क्षीण करती है, बढ़ाती नहीं है। इसी की चकाचौंध मे हमें जीवन नष्ट नहीं कर देना चाहिए।

किसी बाबाजी ने एक कुत्ती पाली। वे जटाधारी बाबा थे। कुतिया बड़ी सयानी थी और बाबाजी की कुटिया मे बैठी रहती थी। जब बाबाजी तालाब मे स्नान करके, शरीर पर भस्म लगा कर, चिमटा और कमण्डलु लेकर वापिस लौटते तो कुतिया उन्हे देख कर पूंछ हिलाती, कुछ अव्यक्त-सी ऊँ--ऊँ--ऊँ करती, पैरों में लोट जाती और कभी पैर तथा कभी मुँह भी चाटने लगती थी। बाबाजी के लिए भक्त लोग प्रसाद लाते तो वे स्वयं खाकर उस कुतिया को भी खिलाते।

एक दिन बाबाजी नदी पर गये। वहाँ स्नान करके शरीर

पर भस्म लगा रहे थे तो एक भक्त ने कहा-बाबाजी, राख क्यों लपटते हैं, आपको तो केसर लगानी चाहिए।

बाबाजी प्रसन्न हो उठे। बोले-केसर मिले तो क्या कहना!

भक्त ने केसर ला कर देदी। बाबाजी ने उस दिन राख के बदले केसर का ही तिलक लगाया और केसर ही शरीर पर चुपड़ी। फिर अपनी कुटिया की तरफ आये। हमेशा कुतिया बाबाजी को आता देखकर पूंछ हिलाती थी और प्रेम प्रदर्शित करती थी, परन्तु आज केसर लगी देखकर वह भोंकने लगी। बाबाजी का राख के बदले केसर लगाना कुतिया के लिए नयी बात थी। अतएव वह बाबाजी को आसन पर नहीं आने देती और भयानक रूप से भौंक कर काटने दौड़ती है।

महात्मा सोचने लगे-आज इस कुतिया को क्या हो गया है? प्रतिदिन माल खिलाता हूँ और आज जरा केसर लगा कर आ गया तो भौंकती है। इसे मेरा एक दिन भी केसर लगाना नहीं सुहाता। अजीब बात है! कैसी पगली है।

दूसरे लोग कहने लगे-बाबाजी! अपनी कुटिया में घुसना चाहते हो तो स्नान करके केशर धो डालो और राख रमा कर आओ। तभी कुतिया कुटिया में प्रवेश करने देगी।

विवश बाबाजी को यही करना पड़ा। वे फिर नदी पर गये। केसर धो डाली और राख लगा ली। जब हमेशा की तरह आए तो कुतिया ने भी हमेशा की तरह ही पूंछ हिला कर उनका स्वागत सत्कार किया!

कहो भाई, कुतिया को क्या केसर पसंद आ सकती थी? नहीं, उसे तो राख ही पसंद आ सकती थी।

इसी प्रकार जो जीव बहिरात्मा है, निकट भव्य नहीं हैं जो शिघ्र मोक्षगामी नहीं है, उन्हें केशर के समान ब्रह्मज्ञान पसंद नहीं आता और फिर मिथ्यादृष्टि रूपी कुत्ता-कुती कभी केसर लगाने भी नहीं देते।

देखो भाइयो ! इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती और भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र महाराज भरत अपने शरीर का नाना प्रकार से शृंगार करके और फिर अरीसाभवन में उसे भली-भाँति निरख कर बाहर निकलते थे। उनके अन्तःपुर में चौंसठ हजार रानियाँ थी। वे अपने-अपने महल के झरोखे में बैठी रहती और बाट जोहती रहती था कि कब पतिदेव निकलें और हम उनका दर्शन करें। और जब भरत महाराज निकलते तो दर्शन करके प्रसन्न हो जाती और अपना जीवन धन्य मानती।

महाराज भरत का शृंगार सदा एक सा नहीं, किन्तु नित्य-नित्य निराला होता था। आज कुछ और तरह का तो कल कुछ और ही तरह का होता था।

एक दिन विचार करते-करते उसी आरीसाभवन में उन्हे वैराग्य हो गया। वैराग्य आते ही भाव चारित्र भी हो गया और घाति कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय शक्रेन्द्र महाराज और देवता आकर खड़े हो गये।

देवता बोले—आप साधु का वेष धारण कीजिए तो हम लोग केवलज्ञान का महोत्सव मनाएँ।

देवगण साधुलिंग धारी मुनि को केवलज्ञान होते ही ज्ञान महोत्सव मनाते हैं। वह मुनि अगर गृहस्थलिंग से हो या अन्यलिंग में हो तो महोत्सव नहीं करते।

यहाँ यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि साधु के भावलिंग के बिना किसी को केवलज्ञान की प्राप्ति होना संभव ही नहीं है। हाँ, द्रव्यलिंग अर्थात् बाह्य वेष साधु का न हो तो भी केवलज्ञान हो सकता है। परन्तु उस वेष में देवगण लोक व्यवहार को ठीक बनाये रखने के उद्देश्य से महोत्सव नहीं करते और न द्रव्य से वन्दन ही करते हैं।

हाँ, तो आज भरत महाराज भवन से बाहर निकले तो सामने छत्र-चामर आदि रखने वाले आए। उन्होंने उनसे कहा—अब मुझे इन चीजों की आवश्यकता नहीं है। रानियो ने भरतजी के नये शृंगार को देखा तो कहने लगी—प्राणनाथ ! आज आपने यह क्या स्वांग बनाया है ?

भेष देख भरतेश्वर केरो, सैयां हंसवा लागी।
अणी हंसवा की खबर पड़ेगी मासु रीजो आगी।
भरतजी भूपति भयोरे वैरागी ॥ टेर ॥

साधु का वेष धारण किये महाराज भरत को देख कर रानियाँ ठहाका मार कर हँसने लगी। कहने लगीं—यह वेष आपको अच्छा नहीं लगता। आप तो यह कीजिये—

भरतेसर रायाजी हाथीड़ा सिणगारो।
बागां में पधारो हो, भरतेश्वर रायाजी ॥

यह अद्भुत शृंगार छोड़िए। आप तो हीरे, माणिक, मोती, पन्ने आदि रत्नों के हार पहर कर बाग में पधारो। यही अच्छा लगता है। तब भरतजी कहते है—सावधान सब दूर रहना। अब मै दूसरा ही हो गया हूँ। वह भरत अब नहीं रहा।

भरतजी का यह कथन सुन कर रानियाँ उदास हो गईं। भरतजी वहाँ से सीधे राजसभा मे गये तो बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उठ कर खड़े हो गये और बोले—पधारो अन्नदाता ! घणी खम्मा ! पधारो ! भरतजी ने कहा—

भरी सभा में कहे भरतजी, सुनो भूप अनुरागी।
इण भव पर तो नजर न दीजे, नजर लगाओ आगी॥

हे राजाओ ! इस दुनिया पर क्या रीझ रहे हो ! यह सब झूठा झगड़ा है। मुक्ति की ओर दृष्टि लगाओ। अपने आन्तरिक-आत्मिक स्वरूप को देखो। सहज स्वाभाविक वैभव को पहचानो।

भरतजी की यह चेतावनी सुन कर राजाओ को बोध प्राप्त हो गया। उनमे से दस हजार राजाओ ने उसी समय मुकुट फैंक कर त्याग मार्ग अंगीकार कर लिया।

यह ब्रह्मज्ञान की महिमा है। भरत महाराज षट्खण्ड भरत क्षेत्र के स्वामी थे। चौसठ हजार रानियों के धनी थे। उनके ऐश्वर्य का क्या कहना है ! ऊपर-ऊपर से उनके जीवन को देखने वाले समझते थे कि यह तो संसार की माया में अत्यन्त लिप्त हो रहे हैं ! कितना आरंभ और कितना परिग्रह है ! किन्तु ऐसा कहने वालों को पता नहीं था कि उनकी अन्दर की वृत्तियाँ कितनी रुक्ष हो चुकी हैं। उनके जीवन में अनासक्ति की मात्रा कितनी अधिक विकसित हो चुकी है। वे जल में कमल की भाँति संसार में रहते हुए भी संसार से अलिप्त हैं। ब्रह्मज्ञान का लोकोत्तर प्रकाश उनकी आत्मा में जगमगा रहा है। उसी ब्रह्मज्ञान की महिमा के कारण वे चक्रवर्त्ती राजा रहते-रहते, आरीसाभवन में ही सर्वज्ञता प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

किन्तु कुत्तों-कुत्तियों को केसर पसंद आने वाली नहीं है। उन्हे राग लगा हुआ ही अच्छा लगता है। इसी प्रकार मिथ्या-दृष्टि जीवों को ब्रह्मज्ञान की वात पसंद नहीं आती, दूसरी दुनिया--दारी की वातें ही पसद आती हैं। परन्तु हित का और सुख का मार्ग यह नहीं है। अगर असली सुख और हित चाहते हो तो जानने का यत्न करो कि आत्मा क्या है? सत्य कितना गहरा है। जो गहराई में उतरता है, उसी को रत्नों की प्राप्ति होती है। कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।

सत्य संसार का सर्वश्रेष्ठ रत्न है। उस रत्न को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मज्ञान के सागर में गोता लगाना पड़ता है। इसी कारण विवेकवती स्त्री अपने पति से कहती है—

जीव ब्रह्म में भेद कंई है, थे इने पाओ।
पड़ी कौन-सी आँटी इणमें, इसको सुलझाओ॥

हे नाथ! आप इस वात का भी विचार करना कि जीव में और ब्रह्म में क्या भेद है? दोनों के अन्तर को ज्ञानी गुरु से समझ कर आना। आत्मा और परमात्मा में किस वात की जुदाई है? दोनों में क्या आंटी पड़ी है? मूल में एक रूपता होने पर भी इनमे क्यों अन्तर है? दोनों में राजा-रंक सरीखा भेद क्यों पड़ा है? यह वात समझने का प्रयत्न करना।

एक राजा के सामने एक पंडित ने सत्संग की महिमा सुनाई। उसने कहा—

लोह का स्वर्ण वने पारस के प्रसंग से,

लटकी भँवरी होती है, सत्संग के प्रताप से ।
लाखों पापी तिर गये सत्संग के प्रताप से ॥ध्रुव॥

पण्डितजी ने कहा—यदि लोहे पर पारस को रगड़ा जाय तो वह लोहा सोना बन जाता है। यह सत्संग का महात्म्य सुन कर राजा ने कहा—पण्डितजी, क्यों गप्प हांकते हो ? दुनिया में पारस कहीं है ही नहीं यह तो आप लोगों के दिमाग की उपज है। अगर आपके दिमाग से बाहर दुनिया में कहीं पारस है तो उसको खोज करके मुझे भी खबर दे देना।

पण्डितजी राजा के जागीरदार थे। वह घबराये कि कहीं जागीर न चली जाय ! अगर पारस खोज कर न लाया गया तो राजाजी अप्रसन्न हो जाएँगे और मेरे बाल-बच्चों की आजीविका पर आँच आ जायगी।

यह सोच कर वह पारस का पता लगाने निकले। जंगलों की खाक छानने लगे। कभी इस महात्मा के पास जाते तो कभी उस महात्मा के चरणों की उपासना करते। मगर पारस का पता न लगा। फिर भी पण्डितजी अपनी धुन के पक्के थे। वह खोज में आगे बढ़ रहे थे कि झोंपड़ी में बैठे एक महात्मा दिखाई दिये। उनके निकट जाकर पारस के विषय में पूछ ताछ की और अपना सब वृत्तान्त सुनाया।

महात्मा बोले--उस राजा को यहाँ ले आओ।

पण्डितजी प्रसन्न होकर राजा के पास पहुँचे। उनसे कहा--महाराज ! आपको पारस देखना है तो पधारिए। अमुक जगह एक महात्मा हैं, उनके पास चलना होगा।

राजा सौ आदमी साथ लेकर उन महात्मा के पास गया। मगर महात्मा के आदेश से सब आदमी अलग भेज दिये गये। राजा अकेला रह गया। तब महात्मा बोले--राजन्! क्या देखना चाहते हैं आप?

राजा—महाराज, पारस देखना है।

महात्मा—अच्छा, आपके पास लोहा है?

राजा—हाँ, यह तलवार है।

महात्मा—अच्छा!

महात्मा के संकेत से एक चेला बाहर आया। महात्मा ने उस से कहा—देखो, लोहे की वह पेटी ले आओ, जिसमें पारस है।

यह सुनकर राजा हँसने लगा। उसने सोचा—लोहे की पेटी में पारस कैसा! पारस होता तो पेटी लोहे की कैसे रहती?

खैर। इसी समय पेटी आ गई और राजा के सामने रक्खी गई। महात्मा ने कहा—राजन्! इसमें पारस है।

राजा—आँखों देखूँ तो मानूँ। पारस होता तो पेटी सोने की क्यों न हो जाती।

महात्मा—इसके बीच में भेद है-व्यवधान है। बताऊँ क्या भेद है?

राजा—अवश्य महात्मन्।

महात्मा ने पेटी खोली तो लोहे और पारस के बीच में एक कागज निकला। उसे दिखलाते हुए महात्मा ने कहा--राजन्, समझे इसमें क्या भेद है? अगर यह पेटी सोने की हो जाने देता

तो क्या लोग मुझे यहाँ रहने देते ? नहीं, काटकर मेरे टुकड़े -टुकड़े कर देते। सोना रखना आसान नहीं। अच्छा; लाओ अपनी तलवार और उस पर रगड़ कर देखो कि वास्तव मे यह पारस है अथवा नहीं ! मगर यह बात किसी के सामने प्रकट मत करना।

राजा ने ज्यों ही अपनी तलवार पारस पर रगड़ी कि वह सोने की हो गई। राजा ने कहा—मान गया महाराज। पारस का अस्तित्व अवश्य है।

महात्मा ने कहा-इस भेद को भी समझ गये न ? जैसे लोहे और पारस के बीच कागज का अन्तर है, इसी प्रकार आत्मा और परमात्मा के बीच भी अन्तर पडा है। वह अन्तर आठ कर्मों का है। जब कर्मों का अन्तर हट जाता है तो आत्मा को परमात्मा होते देर नहीं लगती। पर्दा हटा और आत्मा परमात्मा बना।

यह तो एक दृष्टान्त में जैसी घटना वर्णित है, वह घटित हुई हो या न भी घटित हुई हो। उससे प्रयोजन नहीं। विचार करना चाहिए उसके आशय पर। किसी तत्त्व को सरलता से समझाने के लिए दृष्टान्त का आश्रय लिया जाता है और उसके सहारे साधा--रण श्रोताओ को भी सरलता के साथ वह तत्त्व समझ मे आ सकता है। अतएव आप यह न समझलें कि आपका मनोविनोद करने के लिए मै कहानी कहता हूँ। अगर आप कहानी तक ही सीमित रह गये और उसके अन्तस्तत्व तक, कथा के हार्द तक, उसकी अन्त-रात्मा तक पहुँचने का प्रयत्न न किया तो कुछ भी लाभ न उठा पाओगे। अतएव दृष्टान्त के मर्म को समझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

हाँ, तो वह विवेकवती पत्नी कहती है कि–हे प्रियतम ! आप ज्ञानी गुरु महाराज को उपासना, संगति करो और समझ कर

आओ कि आत्मा-परमात्मा में क्या अन्तर है ? और उस अन्तर का कारण क्या है ?

दूध जमे पर दही हुए सरे, दही से माखन थाय ।
मक्खन से फिर घृत होय ज्यूं परमातम बन जाय ॥

दूध जमने पर दही और दही से मक्खन बनता है । वह मक्खन जब आग पर तपाया जाता है तो घृत बन जाता है । इसी प्रकार तपस्या रूपी अग्नि से कर्म-मेल जल जाता है और तब मक्खन रूप आत्मा घृत रूप परमात्मा बन जाती है !

चौथमल कहे श्रोता नार की, केण जरा मानो ।
बार-बार यूं करे वीनती, नीठ मिल्यो टाणो ॥

भाइयों ! और बहिनों ! विवेकवती स्त्री अपने पति को समझा रही है । जानते हो वह स्त्री कोन है ? और उसका पति कौन है ? वह धर्मपरायण पत्नी है सुमति, जो अपने स्वामो को-आत्मा को धर्म की प्रेरणा करती है । वह कहती है-मनुष्य भव मिला है तो उसे सार्थक कर लो । बड़ा ही दुर्लभ है यह अवसर पाना । मनुष्य भव यों ही व्यतीत हो गया और मर कर जानवर अथवा नारक हो गये तो वह स्त्री क्या आकर तुम्हे कहेंगी ? कभी नहीं । ब्रह्मज्ञान की मौज इसी जीवन में हैं । मनुष्य में ही वह सामर्थ्य है कि वह अनिर्वचनीय, अद्भुत, अनूठे और अलौकिक आत्मानन्द का रसास्वादन कर सकता है । यह सौभाग्य स्वर्ग के अधिपति इन्द्रों को भी नहीं मिलता, सर्वार्थसिद्ध विमान के अहमिन्द्रो को भी नहीं मिलता । यह परमात्मा मनुष्य के भाग्य में ही है । किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य प्राप्त सुअवसर के महत्व को पहिचानता नहीं है और नहीं समझता है कि प्रयत्न करने पर वह क्या प्राप्त कर सकता हैं ।

नहीं जानता है कि वह संसार के अतिशय तुच्छ पदार्थों की प्राप्ति के लिए ही दिन-रात व्यग्र बना रहता है।

हे भव्य! तू अब अपनी असलियत समझ। अवसर से लाभ उठाने की चतुराई सीख। दुनिया के दूसरे धंधे करता है तो उसके साथ थोड़ा धर्म का धंधा भी कर। एक बार अपने मन से नहीं तो हमारे कहने से ही इस पथ पर आ। फिर देखना कैसा आनन्द आता है। अनादि काल के समस्त पाप ताप और संताप मिट जाएँगे। समस्त मनो कामनाएँ पूर्ण हो जाएँगी और अमर आनन्द की प्राप्ति होगी। तथाऽस्तु!

ब्यावर
८-१०-४१ }



भवसागर-शोषण

स्तुतिः—

> तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्त्तिहराय नाथ !
> तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
> तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
> तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज ने फर्माया है—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ! हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ !

हे महाप्रभो ! आप तीनों जगत् के संतापों को—दुःखों को और पीड़ाओं को हरण करने वाले हैं, अतएव हे नाथ ! आपको मेरा नमस्कार हो । हे भूतल के विमल भूषण भगवन् ! मैं आपको

प्रणाम करता हूँ। हे तीनो लोको के परमेश्वर ! आपको ही मेरा नमस्कार हो। प्रभो ! जन्म जरा-मरण रूप भवप्रपच का अन्त करने वाले आप ही हो। आपके चरण-कमलों में मेरा बार-बार नमस्कार हो।

जन्म-मरण रूप संसार अगाध है। इसका शोषण करना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसी के लिए सब पापों का परित्याग किया जाता है। इसी के लिए कठोर से कठोर आराधना और साधना की जाती है। भव-समुद्र से पार होने के लिए ही मनुष्य विराट् से विराट् वैभव को और सोने के सिंहासन को स्वेच्छापूर्वक ठुकरा कर अकिंचन भिक्षु जीवन अंगीकार करता है। इसी महान् प्रयोजन की सिद्धि के लिए घोर कायक्लेश सहन किया जाता है और तीव्रतर तपश्चरण में प्रवृत्ति की जाती है।

आर्य ऋषियों ने जिन चार पुरुषार्थों की कल्पना की है, उनमें भवोदधि शोषण रूप निर्वाण ही-सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरुषार्थों मे दो अर्थात् धर्म और अर्थ साधन हैं और काम तथा मोक्ष साध्य हैं। धर्म मोक्ष पुरुषार्थ का और अर्थ, काम पुरुषार्थ का साधन है। इस प्रकार चार में से दो की मुख्यता है। मगर इन दो—काम और मोक्ष—में से भी काम पुरुषार्थ लौकिक है। उसकी सिद्धि हो जाय तो वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक आनन्द प्रदान नहीं कर सकता। काम-जनित सुख क्षणिक होता है, पराश्रित होता है, दुःखों का कारण होता है और फिर आत्मा को और अधिक मलीन बनाता है। अतएव काम पुरुषार्थ प्रशस्त नहीं कहा जा सकता। उसकी सिद्धि से भी आत्मा की दुःख से निवृत्त होने की समस्या हल नहीं होती। तब एक ही पुरुषार्थ-मोक्ष-शेष रह जाता है। इस पुरुषार्थ की

सिद्धि ही वास्तविक सिद्धि है ! इसी को भव-सागर का शोषण कहते हैं। इसी के लिए धर्म की व्यवस्था की गई है। जो धर्म का आचरण नहीं करता और पापों का परित्याग नहीं करता, वह संसार-समुद्र में डूबता है और डूबता ही रहता है।

श्रीमद् आचारांग सूत्र में भगवान् ने फर्माया है कि-हे आत्मन् ! संसार रूपी समुद्र का शोषण करना अत्यन्त ही कठिन है। भगवान् का सिद्धान्त क्या है ?

'से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पेज्जं च, दोसं च, मोहं च, गब्भं च, जम्मं च, मारणं च, णरगं च, तिरियं च, दुक्खं च; एयं पास-गस्स दंसणं-

आचारांग प्र. श्रु. तृ. अ. तृ. उ.

हे संसार के प्राणियो ! जिन्हें संसार रूपी समुद्र का शोषण करना हो, वे क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम (राग) द्वेष, मोह आदि का वमन कर दें। कोई आदमी हानिकारक वस्तु खा जाता है तो दवा देकर उसे उल्टी कराई जाती है। जहर पेट में रह जाय और फैल जाय तो फिर उसको निकालना बहुत कठिन होता है। तुरन्त निकाल दिया जाय तो उतनी कठिनाई नहीं होती। जिस प्रकार संखिया और अफीम आदि भौतिक विष हैं और इनसे शरीर दूषित हो जाता है, उसी प्रकार उक्त क्रोध मान माया लोभ आदि विकार आध्यात्मिक विष हैं और उनसे आत्मा दूषित हो जाती है। निश्चय ही यह विकार अमृत नहीं, विष हैं और इनके बराबर दूसरा कोई विष नहीं है। भौतिक विष एक ही जन्म में मारता है, किन्तु कषायों का विष जन्म-जन्म में मारता है। यह ऐसा भया-नक विष है जो तड़ा-तड़ा कर मारता है। जिस पर कषाय है

और जो कषाय करने वाला है, वे दोनों अगर जानवर हो जाएँ तो चूहा--बिल्ली बन कर लड़ते--मरते है, बिल्ली--कुत्ता होकर या सर्प--नकुल आदि बन कर आपस में मरते है। कबूतर-कबूतर आपस में लड़तेहैं और कुत्ते-कुत्ते परस्पर एक दूसरे को देख कर गुर्राते, फाड़ते और मारते है। मनुष्य--मनुष्य का प्राणहारक वैरी बन जाता है। नारकी आपस में एक दूसरे को भीषण यातनाएँ पहुंचाते है। गर्ज यह है कि चाहे जिस योनि म जन्म ले लो, कषायों का ज़हर वहाँ भी पीछा नही छोड़ता। वह सैकड़ों जन्मों तक साथ मे चलता है, और आत्मा को भव--सागर मे डुबाता रहता है।

कषायो का जहर बड़ा बुरा जहर है। भगवान ने इसे सबसे बड़ा जहर बतलाया है। इसका सूक्ष्म अश भी कभी कभी बहुत भयानक पतन का कारण बन जाता हैं। यथाख्यात-चारित्र के धनी, ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान तक पहुँचे हुए महान् योगी भी सूक्ष्म कषाय के उदय से नीचे गिरते हैं और यदि सँभल न जाएँ तो गिरते ही चले जाते हैं और आचार्यों का कथन है कि वह ठेठ मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी पहुँच जाते है, जो आध्यात्मिक अधः पतन की सबसे आखिरी सीमा हैं! इससे आप कषायो की भीषणता का सहज ही अनुमान कर सकते है।

इसीलिए वीतराग देव ने फर्माया है कि कषायो के विष को वमन करके निकाल दो। इससे तबियत हल्की हो जायगी। जो कषायों के जहर को त्याग देगा, वह सुखी हो जायगा।

कषायो को कौन करता है? जो पंडित है, विवेकी है, जिसे हेय-उपादेय का भान हो चुका है' जो बुद्धिमान है, पढ़ा--लिखा है, तत्त्वज्ञ है और समझदार है, वही इस विष का त्याग करता है।

जब किसी का किसी बेईमान से पाला पड़ जाता है, तब वह यही चाहता है कि इससे पल्ला छूट जाय तो अच्छा है और दूसरे से कहता है कि—किसी तरह इस बेईमान से, पापी से फंदा छुड़ा दो तो मैं आपका बड़ा ऐहसानमंद होऊँगा। और कदाचित् फंदा छूट जाता है तो समझता है–जान बची और लाखों पाये ! मगर इन क्रोध मान माया लोभ आदि से पल्ला छुड़ाना बहुत ही कठिन है। यह आत्मा के पक्के शत्रु हैं। मगर यह न समझिए कि इनसे पिण्ड छूट ही नहीं सकता। आत्मा में अनन्त शक्ति है और उसकी शक्ति के सामने किसी की कुछ नहीं चल सकती। यदि कषायों का विनाश करना संभव न होता तो मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति ही न होती। न कोई मुक्त होता, न कोई मुक्ति का उपदेश ही देता ! मगर अनन्त आत्माओं ने मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति की है और मोक्ष प्राप्त किया है। इसी कारण कषायों से मुक्त होने का उपदेश भी दिया गया है। अलबत्ता उनसे मुक्त होने के लिए पराक्रम करना पड़ता है। आत्मा को अपने शौर्य और वीर्य का सम्यक् प्रयोग करना पड़ता है। आचारांग सूत्र में ही कहा है—

पणया वीरा महावीथिं।

अर्थात्—वीर पुरुष इस महामार्ग-मोक्षमार्ग-पर चले हैं। अतएव इस पर चलना असंभव समझ कर निराश नहीं होना चाहिए, बल्कि अधिक उत्साह और पूर्ण उल्लास के साथ कदम बढ़ाना चाहिए।

कायर नर कठिनाई सामने देखकर हतोत्साह हो जाता है पर वीर पुरुष का उत्साह कठिनाइयों के आगे और अधिक प्रचण्ड रूप धारण करता है। वह प्रसन्नतापूर्वक कठिनाइयों को झेलता और उन्हें जीतने में आनन्द का अनुभव करता है। वह कठिन

कार्य को सिद्ध करने का अवसर खोजता रहता है और जब उसे अवसर मिल जाता है तो धन्यता अनुभव करता है। अपनी असीम शक्तियों के उपयोग से उसे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। अतएव साहस रक्खो। वीर बनो, महावीर की सन्तान होने के गौरव को स्मरण करो। उन्होंने जिस मार्ग पर चलकर अपना कल्याण किया, उसी अनुभूत प्रतीत मार्ग पर तुम्हें चलना है। वह कोई अजनबी मार्ग नहीं है। अतएव निःशंक होकर उठो और आगे बढ़ो।

भद्र पुरुष ! अगर तुमने कषायों से पीछा छुड़ा लिया तो फिर गर्भ में आना और जन्म--मरण करना आदि सब छूट जायगा। अतः क्रोध और मान से पिण्ड छुड़ाओ। इन्हें कहो कि तुम अब चले जाओ। कपट को भी विदा दे दो। यह बुरी गति करता है। पशु-पक्षियों की योनि में ले जाने वाला यही है। मान तो नीचे घर में ही ले जाता है परन्तु कपट घाघरा--ओढ़नी पहना कर नचाता है। इनसे कह दो कि अब हमारे पास खड़ा रहने की आवश्यकता नहीं। चले जाओ। अनंत काल हो गया, तुमने हमें बुरी तरह घेर रक्खा है। पहरेदार की तरह तुम मुझे घेरे रहते हो मगर अब मुझे कारागार से मुक्त होने दो।

लोभ से भी पिण्ड छुड़ा लो। लोभ मनुष्य के समस्त गुणों का नाश कर देता है। हेत--प्रीत को छुड़ा देता है। अखबार में खबर छपी थी कि एक बड़े महाराजा थे। उनके यहाँ एक महात्मा बड़ी आदर दृष्टि से देखे जाते थे। वह सगाई कराने में इधर--उधर से चार-पाँच लाख रुपया खा गये। परिणाम यह हुआ कि धन के लोभ के कारण उनका टिकिट कट गया।

कहो भाइयो ! यह कितनी बुरी चीज़ है ! यह लोभ इतना

बड़ा बुरा है कि इसने साधुओं तक को भ्रष्ट कर दिया। और कुछ नहीं तो साधुओं को बहुत-से पात्र इकट्ठे करने का ही लोभ हो जाता है। वे वस्त्रों की गांठें की गांठें इकट्ठी कर लेते हैं। अगर एक जगह पर नियत रूपी से रहने लगे तो ऐसी चीजों का संग्रह करना आरंभ कर देते है। तूंबा रखने वाले साधु बहुत-सी तूंबियाँ ही जमा कर लेते हैं। इस प्रकार यह लोभ बुरी चीज है। इसके प्रभाव से धन रखने वाले बाबा लोग 'हाय धन, हाय धन' ही करते रहते है। भक्त एक रुपया भेंट करे तो उसे कुछ नहीं समझते और दस रुपया भेंट कर दे तो कहते है-तेरे समान कोई नहीं है! इस प्रकार वे हजारों-लाखों रुपया इकट्ठा कर लेते हैं।

हिंडोन में एक साधु थे और दो तीन उनके चेले थे। उनके पास बहुत धन था। आखिर उस धन के लिए उन्हे कत्ल कर दिया गया। मुकदमा चल रहा है। इस प्रकार यह धन का लोभ प्राणों का भी ग्राहक बन जाता है। लोभ के संबध मे जब मैं सोचता हूँ तो विस्मय में पड़ जाता हूँ; यह मनुष्य को सुख-चैन से रहने नहीं देता। शांति की सांस लेने नहीं देता। दम मारने की फुर्सत नहीं लेने देता। सदा आकुल-व्याकुल बनाये रखता है, इसके प्रभाव से मनुष्य को दुःख ही दुःख होता है, सुख तनिक भी नहीं मिलता। आदमी न आराम से खा-पी सकता है, न पहन ओढ़ सकता है। बस, कष्ट पाता है और रात-दिन जोड़ने की चिन्ता में मग्न रहता हैं। फिर भी उसमें न जाने कितना आकर्षक है कि वह मनुष्य को मूढ़ बना कर अपने चंगुल में फांस लेता है और आराम की सांस नहीं लेने देता। लोभ गृहस्थी में भाई से, बहिन से, माँ-बाप से और यहाँ तक कि पत्नी से भी संबंध विच्छेद करा देता है। इसलिए लोभ से कहो कि अब हमारे पीछे मत पड़ो। यहां से चले जाओ।

राग भी लोभ का ही एक रूप है। राग अनन्त-अनन्त जन्मों की वृद्धि करने वाला, भयानक से भयानक यातनाओं की भट्टी में जलाने वाला, घोर कष्ट पहुँचाने वाला विकार है। मोक्ष-मार्ग का प्रतिबन्धक है। अतएव इसे भी निकालो। इसी प्रकार द्वेष भी बुरा है। यह अन्तरतर की आग है, जो निरन्तर जलाता रहता है। ईर्षा करना, दूसरे के गुणों को सहन न करना, निन्दा करना, किसी के वास्तविक गुणों की प्रशंसा भी पसंद न आना आदि आदि द्वेष के विभिन्न रूप है। कितना कठोर कर्म है इस द्वेष का! बड़ा ही भयानक है यह विकार।

एक बात याद आ गई। एक सेठ साहब थे। उनकी पत्नी बड़ी गुणवती थी। पूर्व जन्म का पाप शेष था और वह भी प्रबल था। समय और निमित्त पाकर वह पाप उदय में आया। वह जो भी व्यापार करते, उसी में नुकसान उठाते। दारिद्र्य महाराज की उन पर कृपा हुई हालत दिनों दिन गिरती गई।

एक दिन सेठानी ने सेठ से कहा-'अपन दो ही जीव हैं घर में, मगर पेट भर खाने को भी नहीं मिल रहा है। क्या किया जाय ?'

सेठ ने कहा-क्या किया जाय, इसी सोच-विचार में पड़े रहने से कुछ नहीं होने वाला है। धर्म करो और ईश्वर का नाम लो। दान देने के लिए कुछ नहीं है तो तपस्या से क्यों चूकती हो? आखिर पाप के उदय से ही यह हालत उत्पन्न हुई है, अतएव इससे छुटकारा पाने के लिए धर्म करना ही एक मात्र उपाय है।

इस प्रकार विचार करने से दोनों का मन धर्म में लग गया। दोनों शान्ति के साथ काल यापन करने लगे। कुछ समय बाद

सेठानी गर्भवती हुई। संयोगवशात् लड़की पेट में आई! उसके पेट में आते ही सेठजी का समय बदलने लगा। वह जो भी धंधा करते, उसी में दो पैसों की प्राप्ति होने लगी। दूसरों के साझे में भी धंधा चलने लगा। जब धन्धा चल पड़ा और कमाई होने लगी तो पहले जो लोग मुँह की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखते थे, वे भी पूछने लगे।

शुभ मुहूर्त्त में कन्या ने जन्म लिया। उसकी नाल गाड़ने के लिए जमीन खोदी तो वहाँ धन निकल पड़ा। राजा को यह समाचार विदित हुआ तो उसने कह दिया—वह कन्या के भाग्य का है। कन्या पुण्यवान् जीव है। उसके भाग्य की सम्पत्ति को मैं हाथ नहीं लगाना चाहता।

लड़की का नाम 'सुन्दर' रक्खा गया। वह पुण्यशालिनी लड़की बड़ी होने लगी। खेलने जाय और गड़हा खोदे तो हीरे-पन्ने निकल पड़े! इस प्रकार उस भाग्यवती के प्रताप से सेठ के पास लाखों की सम्पत्ति हो गई। जब लड़की बड़ी हुई तो अच्छा घर और वर देख कर उसकी सगाई कर दी गई। विवाह होने पर वह अपने ससुराल गई। ज्यों ही वहाँ एक कंकर से उसके पैर की ठोकर लगी कि कंकर उखड़ गया और धन निकल पड़ा। लोग कहने लगे—धन्य है इसका जीवन! सचमुच यह कन्या सुन्दर है। इसने दोनों कुलों को निहाल कर दिया। कितना पुण्य लेकर आई है!

वह पुण्यशीला लड़की एक दिन मुनिराज को देखकर उनके स्थान पर गई। उसने पूछा—महाराज! पूर्वजन्म में मैंने कौन-सा कृत्य किया था कि जहाँ मेरा पैर पड़ता है, वहाँ से ही धन निकल पड़ता है।

मुनिराज ने कहा-यह तपस्या का प्रभाव है। पूर्वभव में तूने तपस्या की थी, उसी के प्रताप से तुझे यह सौभाग्य मिला है।

लड़की बोली--महात्मन् ! पूरा विवरण कहने का अनुग्रह कीजिए।

मुनिराज ने बतलाया-तू पूर्व जन्म में सेठ की लड़की थी। जब बड़ी हुई तो शादी कर दी गई। उसी गाँव में एक स्त्री-पुरुष का युगल रहता था। दोनों ही बड़े धर्मात्मा थे और धनवान् भी थे। तपस्या के बिना कोई तिथि नहीं जाने देते थे। जब देखो तभी धर्मध्यान में लीन रहते थे। तू उस जोड़ी को देख कर बड़ी ईर्षा करती थी।

एक बार गाँव में आग लगी। तू बहुत प्रसन्न हुई कि इस आग में इन धर्मात्माओं का भी घर जल कर भस्म हो जायगा। मगर बात कुछ और ही हो गई। आग बेकाबू हुई और फैलती-फैलती सारे गाँव में फैल गई। लेकिन धर्म के अचिन्तनीय प्रभाव से उस धर्मात्मा-युगल का मकान आग से अछूता रह गया। इस अद्भुत घटना से तुझे बड़ी निराशा हुई। तू सोचने लगी-हाय, इनका घर क्यों नहीं जला !

कुछ समय के बाद उसी गांव में डाका पड़ा तब तूने सोचा कि-चलो, ठीक हुआ; इनका भी घर लुट जाएगा। लेकिन उस बार भी तुझे निराश होना पड़ा डकैत उनके पड़ौस का घर तो लूट ले गये, मगर धर्म के प्रताप से उनके घर के पास भी न फटके। इस घटना से तेरे दिल में बड़ी दाह हुई। सोचने लगी-हाय, इनका घर क्यों नहीं लुटा !

यथासमय वह स्त्री-पुरुष आयु पूर्ण कर मर गये। तेरे घर में काफी सम्पत्ति थी। मगर ईर्षा रूपी पाप के कारण वह सम्पत्ति कपूर की तरह उड़ गई और तू निर्धन हो गई। अन्त में तेरे जीवन की संध्या आई। जब प्राणों का अन्त होने लगा तो किसी ने तुझे नमस्कारमंत्र सुनाया। किसी पुण्य के उदय से तेरा मन उस परम पावन मंत्र में लीन हो गया। तू ने उसका शरण ग्रहण किया। इससे अनेक पाप करने पर भी तू राजा के यहाँ जन्मी। राजा के चार लड़के थे और पांचवीं तू थी। अतएव प्रेम के साथ तेरा लालन--पालन हुआ। तू बढ़ने लगी।

एक बार राज्य पर दुश्मनों ने हमला कर दिया। उस हमले में प्राणरक्षा के लिए राजा को तथा और सबको इधर-उधर भागना पड़ा। तू वन में भागी और फल-फूल खाकर प्राणरक्षा करने लगी। ईर्षा के पाप के उदय से राजकुमारी होने पर भी भीलनी के समान जीवन व्यतीत करने लगी। उस समय की तेरी अवस्था अत्यन्त दुःख पूर्ण थी।

अचानक उधर से एक विद्याधर विमान में बैठकर जा रहा था। यद्यपि तू ऊपर से भीलनी के समान दिखाई देती थी, मगर नमस्कारमंत्र की आराधना का पुण्य पल्ले में था। राज कन्या होने के कारण रूपवती भी थी। वह विद्याधर तुझे देखकर प्रसन्न हो गया और अपने साथ ले गया। अपने स्थान पर ले जाकर उसने स्नान करवा कर और सुन्दर वस्त्राभूषण पहना कर तेरे साथ विवाह कर लिया। मगर तीसरे ही दिन उसके घर में आग लग गई और घर का सफाया हो गया। विद्याधर ने तुझको ही इस अमंगल का कारण समझा और लाकर फिर वन में छोड़ दिया।

कुछ दिन बाद एक सार्थवाह तुझे ले गया तो उसका भी सारा धन और माल डाके मे लुट गया। उसने भी तेरा परित्याग कर दिया।

इस प्रकार तू दुःख भोगती–भोगती और अकेली फिरती–फिरती जंगल मे समय बिताने लगी। अकस्मात् एक महात्मा मिल गये। तूने उनसे कहा--महाराज ! मै राजा की कन्या हूँ, मगर न जाने कौन-सा पाप उदय मे आया है कि क्षण भर भी चैन नही। जंगल मे मारी-मारी फिर रही हूँ।

मुनिराज ने करुणा के साथ सान्त्वना देते हुए कहा--संसारी जीव कर्मों के अधीन है। जो जैसा कर्म उपार्जन करता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। जब कर्म का फल भोग में आये तो हर्ष और विषाद से बच कर समभाव धारण करना चाहिए। समभाव से वर्त्तमान में शान्ति मिलती है और भविष्य भी उज्ज्वल बनता है। अतएव तू खेद न कर। चित्त को व्याकुल मत बना। शान्ति को धारण करके अशुभ कर्मों को काटने का प्रयत्न कर। तपश्चर्या कर्मों को काटने का सर्वोत्तम साधन है। तू तपश्चर्या कर और परिणामों में समभाव रख। इससे तेरा भविष्यत् जीवन सुधर सकेगा और दुःखो का अन्त आ जायगा।

मुनिराज की शिक्षा मान कर तूने उग्र तपस्या की। तपस्या के तात्कालिक प्रभाव से तुझे एक विद्याधर मिला। तू उसके यहाँ गई। वहाँ भी तेरी तपस्या चालू रही। आयु पूर्ण होने पर तुझे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। स्वर्ग के सुखों का उपभोग करने के पश्चात् च्युत होकर तू सुन्दर नामक लडकी के रूप में उत्पन्न हुई है। पूर्व भव में की हुई तपस्या का ही प्रभाव है कि जहाँ तू पैर रखता है, वहीं धन निकल पड़ता है।

भाई ! ऐसा मत कहो कि भूखे मरने से क्या होता है ! देखो, सुन्दर बाई के पग-पग में निधान हो गया। वास्तव में तपस्या का चमत्कार हमारे चिन्तन से भी परे है। न जाने कितने भवों तक वह अपूर्व आनन्द देने वाली और अन्त मे भवोदधि का शोषण करने वाली है। तपस्या के प्रताप से सुन्दर के घर करोड़ों का धन हो गया। तपस्या करते करते उसे घर में ही केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

इसके विरुद्ध ईर्षा द्वेष का फल भी आपने जान लिया। ईर्षा रूपी डाइन के प्रभाव से राजकुमारी को भीलनी से बदतर हालत में समय गुजारना पडा। जगह-जगह अपमान और तिरस्कार का विष पीना पडा। अन्त मे धर्म का आचरण करने से ही उसकी हालत में सुधार हुआ। इस कारण में कहता हूँ कि इस दारुण द्वेष से दूर रहो। यह जहर से भी बुरा है। इस कांटे को निकाल कर फैंक दो। कब तक इस दुष्ट को साथ में लिये फिरोगे ?

और मोह भी कम भयानक नहीं है। यह मोह संसार रूपी वृक्ष का बीज है। मोह सब दुःखों का मूल है। जिसने मोह को जीत लिया उसने अनन्त सुख की समृद्धि प्राप्त कर ली। जो महापुरुष मोह का वमन कर देता है, उसे गर्भ के कैदखाने मे अवरुद्ध होने का अवसर नहीं आता। वह गर्भ से मुक्त हो जाता है तो जन्म से भी मुक्त हो जाता है और जन्म से मुक्त हो जाने के कारण मृत्यु से मुक्त हो जाता है उसकी आत्मा अपने नैसर्गिक अमरत्व को प्राप्त कर लेती है।

जब आत्मा मृत्युंजय हो जाती है तो उसे न नरक में जाना पड़ता है, न तिर्यंचगति में जाना पडता है और न किसी प्रकार के दुःखों को ही सहन करना पड़ता है।

इस प्रकार भगवान् महावीर कहते हैं- जिसे सुखी होना हो, उसे इस उपदेश पर ध्यान देना चाहिए और इसी के अनुसार आचरण करना चाहिए। तुम से वेला-तेला आदि तपस्या नहीं होती तो कोई हर्ज नहीं, इन क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मोह को तो त्याग दो। इनका त्याग करने में तो कुछ कष्ट नहीं होता, बल्कि शान्ति ही मिलती है। तुम्हें प्रतिदिन कलाकन्द खाना है तो तुम्हारी इच्छा, पर इन दुश्मनों से तो दूर रहो। इनका तो सत्यानाश कर ही डालो।

अगर इन आत्मिक वैरियों का विनाश कर दिया तो ऐसे सुखी हो जाओगे चिदानन्दजी ! कि फिर आपकी महिमा तीनों लोकों में गाई जाएगी। यह मेरा अपना नहीं, सर्वज्ञ प्रभु महावीर का सिद्धान्त है।

आप किस मजहब में रहना चाहते हो ? किसी भी मजहब में रहना चाहो, मगर इतनी बातें तो अवश्य त्याग दो। संसार में कोई मजहब ऐसा नहीं है, जो काम, क्रोध, मद, मोह, राग द्वेष आदि के त्याग का विधान न करता हो। अतएव जब मैं इन विकारों को त्यागने की बात कहता हूँ तो किसी एक मजहब की बात नहीं कहता, बल्कि सर्वधर्मसम्मत तत्त्व का ही प्रतिपादन करता हूँ।

देखो इस क्रोध को गजसुकुमालजी ने छोड़ा तो उन्हें फिर गर्भ में ही नहीं आना पड़ा। गजसुकुमालजी कोई साधारण पुरुष नहीं थे। वे त्रिखण्ड के नाथ कृष्ण वासुदेव के लाड़ले लघुभ्राता थे। सोमिल व्यक्ति में उनकी साधारण-सी भृकुटि को भी सहन करने की शक्ति नहीं थी। तनिक आँख उठा कर भी देख लेते तो सोमिल के देवता कूच कर जाते। मगर उन्होंने तो क्रोध को मार डाला था, अतएव वे अमर हो चुके थे। उन्हें देह के रहने अथवा न रहने

का विचार ही नहीं था। यही कारण है कि सिर पर अंगार रख देने पर भी उन्होंने क्रोध नहीं किया। अतएव आप भी यदि अपना कल्याण चाहते हो तो क्रोध की जड़ उखाड़ कर फैंक दो। इसका खाता बाकी मत रक्खो। बाकी रक्खोगे तो ब्याज बढ़ता ही चला जाएगा। आपको खाता बढ़ाना ही हो तो बात दूसरी है। कभी ऊँट और कभी भैंस बन कर ब्याज चुकाते रहना और दुःख भोगते रहना।

याद रक्खो, जन्म-मरण से छूटने के लिए कई जन्मों में सामग्री इकट्ठी करनी पड़ती है। अनेक जन्मों मे थोड़े-थोड़े संचित किये हुए संस्कार जब परिपाक को प्राप्त होते हैं, प्रबुद्ध होते हैं, तब कहीं जन्म-जरा-मरण से छुटकारा मिलता है।

आज इस उपदेश को अमल में लाने की तैयारी नहीं है तो सुनते जाओ, रुचि और प्रीति के साथ सुनते रहो और सब बातें इकट्ठी करते चलो। समय आने पर विचार करना। अगर उपादेय प्रतीत हों तो अमल में लाना। पर एक बात ध्यान में रखना। यह नुस्खा कोई नया नहीं है। पहली बार आपके ऊपर इसका प्रयोग नहीं किया जा रहा है। यह आजमाया हुआ नुस्खा है और अनंत जीवों पर इसका सफल प्रयोग किया जा चुका है। अनन्त ज्ञानियों ने इसका आविष्कार किया है और इस कारण इसमें संशय के लिए लेश मात्र भी अवकाश नहीं है। सर्वज्ञ के वचन कदापि असत्य नहीं हो सकते। मगर उन पर विश्वास उन्हीं को होता है जिनका ससार-जन्ममरण-अल्प रह गया है, जिनकी भवस्थिति का परि-पाक हो चुका है।

देखो, विचार करते-करते मृगापुत्र का पर्दा हट गया और उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भरत महाराज की विचारधारा जब

ऊर्ध्वमुखी हुई तो उन्हे अरीसा भवन में ही कैवल्य प्राप्त हो गया। इलायची कुमार की कथा भी आपको याद होगी। उन्हे नट की कला को दिखाते २ केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

क्या केवलज्ञान इतना, सस्ता है? क्या यो अनायास ही उसकी प्राप्ति हो जाती है? इतना सुलभ होता तो कौन केवलज्ञान न पा लेता? परन्तु ऐसी बात नहीं है। ये महापुरुष न जाने कितने जन्मों से अपने संस्कार सुधारते आये। न जाने कितनी तपस्या करके आये थे। इसी कारण जरा-सा निमित्त पाते ही उनकी आत्मा ने उत्क्रान्ति की छलांग मारी और उनके भवभ्रमण का अन्त आ गया।

इसी आशा से मैं भी तुम्हारे अन्दर ज्ञान भर रहा हूँ और वह जमा हो रहा है। जैसे फोनोग्राफ में सुई अड़ते ही राग निकलने लगता है, उसी प्रकार किसी न किसी दिन आपका भी ज्ञान प्रकट हो जायगा। मगर जिसकी आत्मा मे तनिक भी जागृति न होगी, जो सम्यग्दृष्टि से सर्वथा रहित होगा, उसके लिए तो उपदेशक भी क्या कर सकता है? कहा भी है—

दीधी पर लागी नहीं, रीते चूल्हे फूंक।
गुरु वेचारा क्या करे, चेला मांही चूक॥

चूल्हे मे आग के सूक्ष्म कण भी हों तो फूंक मारने पर वह चेत जाते है और प्रकाश हो जाता है। यदि उसमें राख ही राख भरी हो तो क्या क्या अग्नि चेत सकती है? इस प्रकार थोड़ा सा भी ज्ञान होगा, सम्यग्दृष्टि होगी तो कभी न कभी केवलज्ञान हो ही जायगा।

ज्ञान का प्रकाश कषायो के अंधकार को नष्ट करता है। ज्यों-ज्यों ज्ञान आविर्भूत होता जाता है, त्यों-त्यों कषायो का दारिद्रय दूर होता चला जाता है। और जब कषाय क्षीण हो जाते हैं तब आत्मा में केवलज्ञान का निर्मल प्रकाश फैल जाता है।

दीनो पर दया करना, दुखी जीवों पर करुणा लाना, न्याय संगत बात को स्वीकार करना, सत्य को सर्वोपरि मान कर अंगीकार करना, हृदय मे औदार्य रखना, आदि--आदि आदतों को अपनाओगे तब कहीं आगे चलकर कभी केवलज्ञान की विभूति के दर्शन कर सकोगे।

भगवान् ऋषभदेव का ही उदाहरण लो। एक जन्म में उन्होंने नींव डाली, तब कहीं तेरहवे भव में वे तीर्थंकर बन सके। इसी प्रकार जिन्होंने भी मुक्ति पाई है, सब को भव-भवान्तर में साधना करनी पड़ी है। इसी से मै कहता हूँ कि अधिक न बन सके तो थोड़ा ही करो। आत्म-कल्याण का भव्य भवन आज खड़ा नहीं कर सकते तो कोई चिन्ता नहीं, नींव तो लगा ही सकते हो। आज नींव लगा लोगे तो किसी दिन शनैः २ महल भी खड़ा हो सकेगा। जो नींव ही नहीं लगाना चाहता, वह कदापि महल नहीं खड़ा कर सकता।

मोक्ष--महल की नींव लगाने का अर्थ है दिल में दया का वास होना। दया भीतर से होनी चाहिए, ऊपरी दया से काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार जो न्याययुक्त व्यवहार करता है, न्यायसंगत वाणी का प्रयोग करता है और न्याय बात को अंगीकार करता है और कपट नहीं करता, वह मानो मुक्ति की प्रथम भूमिका तैयार करता है। यह सब बाते मोक्ष मे ले जाने वाली हैं। अतएव इनका अभी से संग्रह करना चाहिए।

अमुक को इतनी सरलता से केवलज्ञान हो गया, जब यह बात तुम सुनते हो तो सोचते होओगे कि हमें वह क्यों नहीं हो जाता ? पर यह भी तो सोचो कि तुमने क्या संग्रह किया है पहले ? पहले संग्रह किया होता तो केवलज्ञान हो गया होता। अब संग्रह करोगे तो भविष्य में केवलज्ञानी बन जाओगे। अब भी संग्रह न किया और क्रोध आदि कषायों के चक्कर में पड़े रहे तो बस, वही 'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं' का चक्र चलता रहेगा।

प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए दो प्रकार के कारणों की अनिवार्य आवश्यकता होती है--(१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण। जो कारण कार्य से अभिन्न हो और स्वय कार्य रूप में परिणत हो जाय वह उपादानकारण कहलाता है। निमित्त कारण कार्य की उत्पत्ति में सहायक तो होता है, पर कार्य से अलग ही रह जाता है। कपड़ा बनने में सूत, रोटी में आटा और घर मे मिट्टी उपादान कारण है। इसी प्रकार मुक्ति में आत्मा स्वयं उपादान कारण है। जैसा उपादान होता है, वैसा ही; कार्य होता है। हजार निमित्त मिल जाएँ परन्तु जैसा आटा होगा, वैसी ही रोटी बनेगी। सफेद तंतुओं से लाल वस्त्र नहीं बनाया जा सकता, भले ही जुलाहा कितना ही होशियार हो और यंत्र भी बढ़िया से बढ़िया हो ! इसी प्रकार उपदेशक कितना भी कुशल क्यों न हो और वह आपको कितनी ही उत्तम शिक्षाएँ दे और तत्त्व का गूढ़ से गूढ़ ज्ञान दे, मगर आपका हित तो आपकी आत्मा से ही होगा। आपका निस्तार तभी होगा जब आप अपनी आत्मा को उज्ज्वल और पवित्र बनाएँगे। उपादान शुद्ध होगा तो नाम मात्र का कोई भी निमित्त पाकर केवलज्ञान उत्पन्न हो सकता है। जिन महापुरुषों ने सहज ही केवलज्ञान पाकर मोक्ष लाभ किया, उनका उपादान पहले से ही शुद्ध था। आप भी अपने उपादान को--अपनी आत्मा को विशुद्ध

बनाने के लिए प्रयत्नशील रहिए। आप भी उस महान् अभ्युदय के भागी हो सकेंगे।

भगवान् नेमिनाथ के समय में कृष्णजी आदि ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जन किया था और भगवान् महावीर के समय में नौ ने। यह सब उपादान की शुद्धि का ही फल था। उपादान पहले से शुद्ध हो गया था। अतः हे जीव! जो तू अपना कल्याण चाहता है तो वीतराग के वचनों की आराधना कर—

रे जीव जिनधर्म कीजिये, धर्म का चार प्रकार।
दान शील तप भावना, शिवपुर मारग चार॥

यह वीतराग का मार्ग है। तू इसे धारण कर। अभी से आत्मा को मांजना आरंभ कर दे। पहले से ही सामग्री तैयार कर ले। कहा है—

शुद्धि अन्तःकरण की करो भाइयो,
मत अशुद्ध के अशुद्ध मरो भाइयो॥

अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर लो। कपट का मैल मत रहने दो। शुद्ध हो जाओ और ऐसे शुद्ध हो जाओ कि तुम्हे भी दुनिया गुणवान् कहने लगे। और—

तीर्थयात्रा सफल हो तभी भाइयो,
जब कपट काम लालच हरो भाइयो॥ १॥

अगर अशुद्ध के अशुद्ध ही जाओगे तो जमदूत काटेंगे और यदि शुद्ध होकर जाओगे तो परमात्मा से मुलाकात होगी। मनुष्य भव की प्राप्ति रूप तुम्हारी यह तीर्थयात्रा तभी सफल होगी जब

कूड़-कपट और लोभ-लालच छोड़ कर अपनी आत्मा को-अपने उपादान को शुद्ध कर लोगे।

मिलता नापाक से पाक प्रभु नहीं,
पाक हृदय को पहले करो भाइयो ॥२॥

देखो, परमात्मा पाक है और पवित्र है और निरंजन निराकार है। वह नापाक जीवों से कभी मिलने वाला नहीं है। अतएव यहां स्नान करो तो मैल मत रहने देना-आन्तरिक सफाई करना। ऐसे शुद्ध होकर जाना कि ईश्वर मिल जाय।

पाप का मैल मन पर है छाया इसे,
ज्ञान-गंगा में नहा कर हरो भाइयो ॥३॥

घड़ा पानी बहाकर शरीर को धोने से काम नहीं चलने वाला है। मन मे पापों का जो मैल चिपटा है, उसे दूर करना ही सच्चा स्नान करना है। उसी से आत्मा की शुद्धि होती है। अभी तो आपकी यह हालत चल रही है—

लीधी समरणी हाथ कतरनी कांख में,
छापा तिलक, लगाय चल्यो दरबार में।
बोले मीठा बोल के टउका मोर का,
दीखत का साहूकार लखन है चोर का॥

जो हाथ मे माला और बगल मे कतरनी रखते हैं, छापा-तिलक लगा कर राजसभा में जाकर सब को छलते है और मीठी-मीठी बातें बनाते है, इस प्रकार जो साहूकार होने का ढोंग करते है परन्तु चोर के काम करते हैं, जो कपट की मूर्त्ति

है, दुनिया को ठगते फिरते हैं, वह क्या परमात्मा के समीप भी पहुँच सकते है ? कदापि नहीं। परमात्मा के दरबार मे तो उन्हीं की पहुँच होगी जो भीतर--बाहर से एक--से शुद्ध और पवित्र होंगे। जो हृदय से बगुला के समान और बोलने में कोयल के समान है, उन ढोंगियों का, कपटियो का निस्तार होने वाला नहीं है। ढोंग से दुनिया को ठग सकते हो, परन्तु परमात्मा को नहीं ठग सकते। अतएव निस्तार चाहते हो और भवोदधि का शोषण करना चाहते हो तो निष्कपट बनो। निष्कषाय बनो। सत्य और न्याय के मार्ग पर चलो। करुणा का निर्मल झरना अन्तःकरण में बहने दो। ईर्षा और द्वेष को दूर से ही दुतकार दो। ऐसा करने पर आपका कल्याण होगा और आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर (अजमेर)
८-१०-४७



दुर्गुण-दलन



स्तुतिः—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्त विविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

हे महाप्रभो ! आपमें गुण ही गुण भर गये हैं। गुण इस प्रकार ठसाठस भरे हैं कि दोषों को रहने के लिए जरा भी अवकाश नहीं रह गया। जब दोषों ने देखा कि भगवान् हमें अपने पास भी

नहीं फटकने देते है तो वे रुष्ट होकर और दूर चले गये। उन्होंने अभिमान के साथ विचार किया-संसार में हमारे लिए स्थान की क्या कमी है? अनन्त-अनन्त जीव इस संसार में भरे पड़े है और वे सभी हमें (दोषों को) गुणों की अपेक्षा से भी अधिक प्रेम से चाहते और अपनाते हैं। ऐसी अवस्था में यदि एक जिनेन्द्र ने हमें न अपनाया तो हमारा क्या बिगाड़ हो जायगा?

दोषों ने कहा--मनुष्यो और पशुओ की तो बात ही अलग, स्वर्ग के देवता भी ललचा-ललचा कर हमे अंगीकार करते हैं और इसी में आनन्द मानते है। तुम न रक्खो तो न सही, हमे भी तुम्हारी परवाह नहीं है। हमारे कद्रदां बहुत हैं। हरेक मनुष्य हमे अपने हृदय का हार बना कर रखता है। संसार में जिनकी कीर्ति विख्यात है और जो बड़े महात्मा और योगी कहलाते हैं, वे भी हमें भीतर-भीतर चाहते हैं।

इस प्रकार बहुत स्थानो की प्राप्ति से गर्विष्ठ होकर दोष जिनसे दूर चले गये हैं, इस कारण जो सर्वथा निर्दोष हो चुके है, उन भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार प्रणाम है।

दुनिया में हजारों तरह के दुर्गुण हैं। कोई किसी में और कोई किसी मे विद्यमान है। चुगली करना भी दुर्गुण है और यह किस में नहीं पाया जाता? क्रोध को, मन को, मायाचार को और लोभ को कौन नहीं धारण किये हैं? अन्याय, अनीति, पक्षपात, संकीर्णता, डाह, क्षुद्रता, असहिष्णुता, अज्ञान, दुराग्रह आदि-आदि दुर्गुणो स कितने बचे हैं?

कई लोग अहंकार के साथ, अपना गौरव प्रकट करते हुए कहते हैं-'मैं टेक वाला हूं। जो टेक पकड़ता हूँ, उसे छोड़ना नहीं जानता। प्राण छोड़ दूं पर टेक न छोड़ूं' परन्तु अरे टेकी! सोच

तो ले कि इस टेक से तेरी हानि तो नहीं होगी ? और यह टेक तेरी कब तक निभ सकेगी ?

निन्दा करने में कितना आनन्द आता है ? पराई निन्दा करते समय ऐसा लगता है, मानो मुँह में मिस्री घुल गई हो ! कोई दूसरा किसी की निन्दा कर रहा हो तो लोग कान लगा कर सुनते है

इन दुर्गुणो की तारीफ बड़ी जबर्दस्त है। कहाँ तक उनका बखान किया जाय ? जरा-सी बात कह दी और सुनने वाले को अप्रिय लगी तो चट क्रोध आ जाता है। वह तो मानो भीतर तैयार बैठा रहता है और बाहर निकलने का मौका देखता रहता है। उसे लोग बड़े यतन से सँभाल कर रखते है। ऊपर से सफाई पेश किया करते है कि-हमारे सरीखे, महावीर तो हम ही हैं। भीतर देखो तो हलाहल विष ! आग की जैसे ज्वालाएँ धधक रही हों !

दोष कहते हैं-दुनिया मे बड़े-बड़े राजा है। उनके नाम अलग-अलग देशों में अलग-अलग हे। कहीं प्रेसीडेंट कहलाते है, कहीं राष्ट्रपति के नाम से पुकारे जाते हैं, कहीं 'डिक्टेटर' कहे जाते है। और कही शाह, बादशाह आदि कहलाते है। वे राज्य के संचालक होते हैं और समग्र राष्ट्र उनके इशारे पर चलता है। परन्तु वे किसके इशारे पर नाचते हे ? उन्हे नचाने वाले हम है। वे भी हमारे अधीन हैं। अतएव हम शाहशाह हैं, राजराजेश्वर है। जब उन पर भी हमारा अखड शासन चलता है तो साधारण जनता की बात ही क्या है !

'हम कभी किसी का पिण्ड नहीं छोड़ते। अनादि काल से हमारा शासन चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। यह शासन किसी एक देश या एक महाद्वीप तक सीमित

नहीं है, मगर समग्र लोक अर्थात् चौदह राजू पर्यन्त विस्तृत है। हमारी गफ़लत से कभी कोई जीव मोक्ष में चला जाय तो भले चला जाय, मगर जहाँ तक हमारा वश चलता है, हम किसी को मोक्ष में नहीं जाने देते। यहाँ तक कि बहुत दूर तक गये हुए को भी घसीट कर ले आते हैं'

इन दुर्गुणों की भी एक मंडली है। अनेक उसके सदस्य हैं और उनमें एक प्रेसीडेंट है। औरतें भी इस मंडल में सदस्या हैं।

सभा में कहा गया-अमुक भगत आजकल माला फेरने लगा है और धर्म पर दृढ़ है। उसे कौन काबू में कर सकता है?

एक औरत सदस्या ने कहा--यह बीड़ा मैं उठाती हूँ। मैं चाहे जिस पर अपना जादू चला सकती हूँ। मुझसे बच कर वह भगत जाएगा कहाँ ?

ये निद्रा पड़ी केडे आई आई,
प्रथम निद्रा आई नैन में,
माथा को दीना झुकाई,
हाथ की माला हाथ से गिर गई,
शुद्धि सब विसराई ॥

उसके आते ही मस्तक झुक जाता है। ईश्वर भजन का गुट्टा भी हाथ से छिटक जाता है। आलस्य उसका भाई है। पूरा परि-वार है। उसने कहा-मैं अभी भक्त को पकड़ कर लाती हूँ।

झूठ ने कहा-अच्छा, मैं तेरे पास ही खड़ा हो जाऊँगा। क्रोध बोला-मैं भी तुम्हारी सहायता के लिए तैयार हूँ। सब मिल

कर भगत के पास आए। माला फेरते फेरते भगत के सिर पर निद्रा सवार हुई। उसका मस्तक झुकने लगा। पास बैठे हुए लोगों ने कहा-'भगतजी, नींद आ रही है क्या ?'

भगतजी—नहीं तो, मै जाग रहा हूँ।

इस प्रकार निद्रा के बाद झूठ का आतंक जमा। किसी ने कहा—अरे, नींद भी ले रहे हो और झूठ भी बोलते हो! तो क्रोध ने अपना प्रभाव दिखलाया—भगतजी तेजी में आकर बोले-'कहाँ सोया हूँ ? हल्ला मत करो।' किसी ने अधिक तंग किया तो बोले-याद रखनो, मेरा नाम अमुक है! ज्यादा छेड़ा और परेशान किया तो व्याख्यान में आना ही छोड़ दूंगा।

यह दुश्मनों की करामात! दुर्गुण इस प्रकार हमला करते है और अपने अधीन बना लेते है। वे एक के बाद एक कमर कसे तैयार रहते हैं। कोई कहते है-व्याख्यान सुनने मे तो मजा नहीं आता। जहाँ घुंघरुओं की मधुर ध्वनि के साथ नाच हो, बस वहीं मन लगता है। इसलिए लोगा ने धर्मस्थानों पर नाचना, डंडे बजाना और रासलीला करना प्रारम्भ कर दिया है, जिससे इन्द्रियो के अनुकूल विषय मिलने से लोग बहुत आवें। मगर याद रखिए, वहाँ भी दुर्गुण गले के हार बन जाते है। वह दुष्कर्म की जगह बन जाती है, धर्म की जगह नहीं रहती। इस नाचने, गाने और स्वांग बनाने में कितने ही स्त्री-पुरुष बिगड़ गये है। आपने कुछ वर्षों पहले अखबारों में कलकत्ता-काण्ड के समाचार पढ़े होंगे। कल-कत्ता में एक बना कृष्ण, जिसका नाम हीरालाल था। वह कहने लगा-मैं कृष्ण हूँ। वृद्धा को पकड़ कर वह कहता-यह पूर्वजन्म मे गोपिका थी। फिर किसी औरत को पकड़ता और कहता-यह मेरी

गोपी थी। यों करते-करते उसने अपना सर्वनाश कर लिया। वह दिवालिया बन गया!

महाराज, आपके यहाँ आकर क्या करें! न तब्ला, न सारंगी!

हाँ, यहाँ तो कानों को राजी करने के लिए केवल भजन है। और कोई अड़ंगा नहीं है। यहाँ 'परसाद' भी नहीं दिया जाता है।

कोई कह सकता है-इसी से तो आपके पास अधिक आदमी नहीं आते। मगर हमें अधिक का क्या करना है? जितने आवें, उतने ही अच्छे। उतने ही रतन है। संसार में रत्न थोड़े और कंकर पत्थर बहुत है। अगर हमारा निमित्त पाकर एक भी जीव मोक्ष में चला गया तो हमारा श्रम सार्थक है। कंकर इकट्ठा करके हमें करना क्या है?

कंकर से रत्न बनने में कई बार पृथ्वी काय आदि में जन्म लेना पड़ता है। जितने सत्यमार्ग की ओर झुकें उतने ही रत्न है। आज झूठ बोलने वाले, कपट करने वाले, परस्त्री की ओर ताकने वाले और मदिरा-मांस के सेवन में धर्म बताने वाले बहुत लोग है और अनेक मजहब खड़े हो गये हैं! कुंडा पंथ और कांचलिया पंथ का नाम आपने सुना होगा। वे कहते है-हमारे पथ में बहुत आदमी हैं! मगर इस बहुसख्या का लाभ क्या हैं?

यहाँ तो सबको दुर्व्यसनों के त्याग की प्रेरणा दी जाती है और कामभोगों से विमुक्त होने की प्रेरणा दी जाती है। जिसकी इच्छा हो, आवे, धर्म की बात को सुने, दुर्व्यसनों का त्याग करे और कल्याण के मार्ग पर चले। दयामय धर्म तो जो सीखेगा सो सीखेगा—

जीवदया सीखी नहीं, सीख्या आल्या-पाल्या ।
चौरासी का जीवड़ा, चौरासी में चाल्या ॥

कोई कहता है–महाराज, हम आपके पास नहीं आते । मैं कहता हूँ–तुम्हारी मर्जी ! नहीं आते तो हमें क्या सोच है ? यहाँ कोई चढ़ावा तो लेते नहीं कि कुछ कमी रह जायगी ! तुझे गर्ज हो और नरक मे जाने से बचना चाहता हो तो यहाँ दया पाल ! तेरे आने से हम तिर नहीं जाएँगे और न आने से डूब नहीं जाएँगे । पापियों को दयाधर्म नहीं सुहाता तो हमारा क्या दोष है ?

ऊँट ने इक्खू नहीं भावे, गधा मिस्री नहीं मानी रे ।
ज्वर से भोजन-रुची जाय, ऐसे अज्ञानी रे,
श्री जिनवाणी रे, तू सुण थारी सुधरे जिंदगानी रे ॥

ऊँट को गन्ना नहीं भाता । वह बड़े चाव से नोम खाता है । सब को इक्षु मीठा लगता है, पर ऊँट कहता है–मुझे वह अच्छा नहीं लगता । और गधे को बीकानेर की मिस्री खिलाओ तो उसकी जान निकल जाय ! वह उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती । जिसे १०५ डिग्री बुखार चढ़ा है उसे बदाम का सीरा खाने को कहा जाय तो क्या वह खाएगा ? नहीं । खाएगा तो खाते ही उल्टी आ जाएगी । तो क्या सीरा बुरा है ?

इसी प्रकार वीतराग की वाणी बड़ी ही मधुर और कल्याणकारी है । पाँचों इन्द्रियों को वशमें करने की प्रेरणा देने वाली है,फिर भी बादाम के सीरे के समान है । फिर भी वह किसी किसी लघु--कर्मा जीव को ही भाती है । गुरूकर्मा जीव को वह प्रिय नहीं लगती । इसमें वाणी का दोष नहीं, जीव की विकृत प्रकृति का ही दोष है । जिस जीव के कर्म कुछ हल्के पड़ जाते है और इस कारण जिसकी

प्रकृति में सुधार हो जाता है, आत्मा में किंचित जागृति आ जाती है, उसी को वीतराग की वाणी पर प्रीति उत्पन्न होती है। बड़े पुण्य के उदय से इस वाणी को श्रवण करने का अवसर मिलता है जीव को चार बातों की प्राप्ति अत्यन्त कठिन मानी गई है। उनमे जिन-वचनों का श्रवण भी एक है। जिन्हें इस परमपावनी वाणी को सुनने का सुअवसर प्राप्त है, समझना चाहिए कि वे अत्यन्त पुण्य-शाली हैं, धन्य हैं। इस वाणी को श्रवण करके आचरण मे लाना और भी अधिक सौभाग्य का चिन्ह है। कितने ही लोग कहते हैं-हम तो पढ़ गये है! मगर अरे पढ़ने वाले! तू पढ़ा है या पड़ा है? पढ़ने के पश्चात भी यदि तेरे जीवन में धर्मरुचि जागृत नहीं हुई है, तेरे आचरण में सुधार नहीं हुआ है तो तेरा पढ़ना पढ़ना नहीं, पडना है। अज्ञान प्राणी यदि आचारहीन हो तो कदाचित क्षम्य हो सकता है, परन्तु जो पढ़-लिख कर और विद्वान् कहला कर भी अपने आचरण को उच्चकोटि का नहीं बना सका; वह क्षम्य कैसे माना जा सकता है? आचार्यों ने कहा है—

णाणस्य फलं विरई।

अर्थात्-ज्ञान का फल पापों से निवृत्त होना है।

इससे स्पष्ट है कि जो ज्ञान प्राप्त करके भी पापों से निवृत्त नहीं हो सका, उसका ज्ञान निष्फल है। उसका उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

ज्ञानं भारः क्रियां विना।

जब ज्ञान के अनुसार क्रिया नहीं की जाती तो ज्ञान भार है-बोझ है। वह किस काम का है? बल्कि ऐसा ज्ञान कभी-कभी तो और अधिक अनर्थ का कारण बन जाता है। क्रिया हीन ज्ञान प्राप्त

करके मनुष्य झूठा आश्वासन प्राप्त कर लेता है। वह समझता है कि ज्ञान से ही मेरा निस्तार हो जायगा। उसे यह नहीं सूझता कि भोजन के ज्ञान मात्र से किसी की भूख नहीं मिटती और औषध को जान लेने से ही किसी की बीमारी नहीं भाग जाती। भोजन और औषध का सेवन करना पड़ता है। अमल किये बिना कोरे ज्ञान से सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

इसका अर्थ यह न समझ लीजिए कि मैं ज्ञान की निरर्थकता प्रकट कर रहा हूँ या ज्ञान को हानिकारक बतला रहा हूँ। मैं आचरण में न आने वाले ज्ञान के विषय में ही यह कह रहा हूँ। यों ज्ञान अपने आपमें एक महत्त्वपूर्ण गुण है और वह आत्मिक प्रकाश है। उसके अभाव में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेक नहीं होता। अच्छाई-बुराई का भेद ही मालूम नहीं हो सकता। जो अज्ञानी है वह अंधकार में ठोकरें खाता फिरता है। उसे मार्ग नहीं सूझता। भलाई की ओर जाना भी चाहे तो अज्ञान के कारण बुराई की ओर चला जाता है। इसी लिए शास्त्र मे कहा है:—

अन्नाणी किं काही ?
किं वा णाहिइ छेय पावगं ?

अर्थात्-बेचारा अज्ञानी क्या कर सकता है ? वह अच्छेबुरे को किस प्रकार जान सकेगा ?

इस प्रकार सर्वप्रथम ज्ञान की आवश्यकता तो है ही, मगर जो ज्ञान जानने तक ही सीमित रह जाता है और व्यवहार में नहीं आता, वह सफल नहीं है। जैसे क्रिया के अभाव में ज्ञान कार्यकारी नहीं उसी प्रकार ज्ञान के अभाव में क्रिया भी ऊटपटांग होकर प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकती। अतएव ज्ञान के साथ क्रिया

करने मे ही कल्याण है। ज्ञान का अमोघ साधन भगवान् की वाणी है। इसे प्रीति के साथ श्रवण करो। आचारांग सूत्र मे फर्माया है—

जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना...........

सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी से कहते हैं-भूत काल मे अनंत तीर्थंकर हुए है और वर्त्तमान में वीस तीर्थंकर विहरमान हैं।

विहरमान तीर्थंकर वह कहलाते हैं जो वर्त्तमान में विद्यमान हो, विचरण कर रहे हों। महाविदेह क्षेत्र में यह तीर्थंकर सदैव रहते हैं। जघन्य वीस और उत्कृष्ट एक सौ साठ और एक सौ सत्तर होते हैं। एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ता है। बीस तीर्थंकरों में से चार जम्बूद्वीप में, आठ धातकीखंड में और आठ पुष्करार्द्ध में होते हैं। सीमन्धर स्वामी, जुगमन्धर स्वामी, भद्रबाहु स्वामी और सुबाहु स्वामी, यह जम्बूद्वीप के चार विहरमान तीर्थंकरों के नाम हैं। सीमन्धर स्वामी औरों की अपेक्षा हम से अधिक सन्निकट हैं, फिर भी भरत क्षेत्र से तेरह करोड़ कोस दूर है। वे यहाँ की सब बातें जान रहे हैं। आपने कभी उन भगवान् की स्तुति की? उनसे विनति की?

श्रीमन्धर स्वामी म्हारी अर्ज सुनो इक वार ॥ टेक ॥

सीमंधर स्वामी को अपने अन्तःकरण में स्थापित करके अपने समस्त अवगुण निवेदन कर दो। ऐसा करने से आपकी आत्मा शुद्ध होगी और आत्मा शुद्ध होगी तो उसमे सद्गुणों का विकास होगा और दोषो के प्रति अरुचि उत्पन्न होगी। आप निर्दोष बन जाएँगे।

ईर्या की जतना नहीं, नहिं भाषा को विचार।

प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है। घट-घट की जानते है। आपसे मेरी कोई भी मानसिक, वाचिक या कायिक चेष्टा छिपी नहीं है। फिर भी अपनी शुद्धि के अर्थ मै अपने अवगुणो को आपके समक्ष निवेदन करता हूँ। भगवन ! मै चलने में भी यतना नहीं करता और बोलने में भी विवेक नहीं रख सकता। मुझे यह भी ज्ञान नहीं है कि यह भाषा सावद्य है या निरवद्य है ? और क्या है ?

पलेवणा नहीं बन सकी, मैं दूषित भोगूं आहार ।
परठने का कोई ध्यान नहीं, नहीं कियो गुपति विचार ॥

भगवन् ! आपने परठने की जो विधि बतलाई है, उसे भी मैं पूरा नहीं कर सकता। कभी ऊँचे से फैंक देता हूँ और कभी जोर से। यहाँ तक की ओघा-पात्र आदि धर्मोप करणों को भी जोर से पटक देता हूँ। डंडी भी तड़ातड़ बजती है। दीनानाथ ! गोचरी का भी ठिकाना नहीं है। पूछता भी नहीं कि सूझता हो या असूझता ? यह भी भान नहीं कि किन-किन दोषों को टाल कर आहार लेना चाहिए ? भरा पात्र कि लेकर चल दिया !

प्रतिलेखना का भी कुछ खयाल नहीं आपकी आज्ञा लेने का भी भान नहीं रहता। यह सावधानी भी नहीं रहती कि कहीं मक्खी या मच्छर न मर जाय !

गुप्ति की तो बात ही दूर रही। जहाँ समिति में ही घोटाला है, वहाँ गुप्ति की क्या चर्चा करूँ ? मन बिगड़ जाता है। मौन रहते नहीं बनता और शारीरिक क्रियाओं की भी मर्यादा नहीं पलती।

प्रभो ! ऐसे-ऐसे न जाने कितने दुर्गुण मुझमें भरे है। उन सब को आप भलीभाँति जानते हैं। फिर भी मै आपके समक्ष निवेदन करके कुछ हल्का होना चाहता हूँ।

जब तक यह दुर्गुण दूर नहीं होते तब तक पढ़ने से भी क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

भणिया भव सुधरे नहीं, जो नहिं आतम-लक्ष ।
सादी चित्ती शील की, दोनों डूबन्त पक्ष ॥

कोरी पढ़ाई से, शास्त्रों के पाठ रट लेने से या बड़े-बड़े पोथे कंठस्थ कर लेने से यह मनुष्यजन्म सार्थक नहीं होगा ।

भगवन् ! मैं कैसे तिरूँगा ? मेरा बेड़ा पार किस प्रकार होगा ? हे प्रभो !

मैं हूँ भरतक्षेत्र में, तुम महाविदेह मुझार ॥

आपके और मेरे बीच में बहुत फासला है । आप महाविदेह क्षेत्र में हैं और मैं भरतक्षेत्र में हूँ । सान्त्वना की बात है तो यही कि मैंने अपने मन में आपकी प्रतिष्ठा कर ली है । मन से आप मेरे पास ही हैं ।

तेरह क्रोड़ कोस की, म्हारे छेटी तारणहार ॥

हे तरण तारण ! भरत और महाविदेह क्षेत्र में केवल तेरह करोड़ कोस की दूरी है । मगर आपके पावन दर्शन करके मैं अपने नयनों को सफल नहीं बना सकता । नीतिकार कहते हैं:—

दूरस्थोऽपि समीपस्थः, हृदये यदि विद्यते ।
समीपस्थोऽपि दूरस्थः हृदये यदि न विद्यते ॥

जो हृदय में स्थित है, वह दूर होने पर भी समीप ही है और यदि हृदय में विद्यमान नहीं है तो समीप होकर भी दूर ही समझना चाहिए ।

भगवन् ! हृदयस्थ होने से आपके समीप होकर भी आपके दर्शन नहीं कर सकता, यह विचार फिर भी मेरे चित्त को पीड़ित करता रहता है—

इस भव में नहिं आ सकूं, है यो ही सोच अपार ॥

बड़ी-बड़ी विशाल शैलमालाएँ मार्ग को अवरुद्ध किये है। कितनी ही महासरिताएँ आड़ी पड़ी है। अतएव इस भव मे आपके समीप शरीर से उपस्थित होना सभव नहीं है। साथ ही यह भी खयाल आता है—

कहाँ तक प्रभु मैं वीनवूं, म्हारा अवगुण को नहिं पार ॥

दीनानाथ ! कहाँ तक निवेदन करूँ। मुझे अपने दुर्गुणों का कही पार नहीं दिखाई देता। अनन्त अवगुण मुझमें भरे पड़े हैं। जब इस प्रकार विचार करता हूँ तो घोर निराशा होती है और खयाल आता है कि आगामी भव में भी आपके चरणो के निकट पहुँच सकूँगा या नहीं ? मगर जब आपके विरुद का विचार आता है और जब सोचता हूँ कि आप पतितपावन हैं, अधम उद्धारण हैं, दीनदयाल है तब आशा की कुछ किरणें चमकने लगती है। जी चाहता है कि आप से प्रार्थना करूँ—

तारो विरुद विचारी ने, अब तो मुझे दो तार ॥

परमात्मन् ! मैं जैसा हूँ सो हूँ। अप मेरी ओर न देखिए और अपने विरुद का विचार कीजिए। अपने विरुद का विचार करके तार सकें तो तार दीजिए। मैं लोहा हूँ मगर आप पारस है। पारस की विशेषता यदि है तो सिर्फ इसी कारण कि वह लोहे को सोना बना देता है। उसमें यह विशेषता न होती तो कौन--उसकी

महत्ता अंगीकार करता ? प्रभो ! आपका महात्म्य इसी में है कि आप मुझको सोना बना दें। मै अधिक से अधिक यही कर सकता हूँ कि—

जो चवने मैं सुर बनूँ, तो दर्श करूँ इक वार ॥

भगवन्! मेरी आन्तरिक कामना है कि इस जीवन के अनन्तर यदि मैं देवगति पा सकूँगा तो कम से कम एक बार तो आपके दर्शन अवश्य ही करूँगा।

चौथमल की वंदना, प्रभू ! कर लीजो स्वीकार ॥

प्रभो ! आपके चरणों में मैं विनम्रतापूर्ण प्रणाम करता हूँ। मैं इस स्थान से उस स्थान पर स्थित आपकी वंदना करता हूँ। रात को चन्दा आएगा तो मैं उसके साथ अपनी वंदना भेजूँगा। उसे कृपा करके आप स्वीकार कीजिए। आपने ही भावना से सिद्धि बतलाई है, अतएव आप मेरी भाववंदना को अवश्य स्वीकार करेंगे। इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

चंदा जी ! थे गगन करो उद्योतजी,
कोई दीसो रे दीसो सबमें निरमला रे।
चंदाजी थे श्रीमन्दिर पां जाइ रे,
कीजो रे कीजे वन्दना माहरी रे ॥

भगवन्! आपके पास और कोई तो जाने वाला दीखता नहीं। चन्द्रमा से ही प्रार्थना करता हूँ कि–हे चन्द्रमाजी ! आप निर्मल और शुद्ध हो। जब आप लौट कर जाओ तो सीमंधर स्वामी के चरणों मे मेरी वन्दना निवेदन कर देना।

विदेह क्षेत्र मे भी चन्द्रमा और सूर्य उगते है। जब यहाँ दिन होता है तो वहाँ रात्रि होती है और जब यहाँ रात्रि होती है तो वहाँ दिन होता है।

तो हे चंदा! तुम वहाँ जाते तो हो ही, इतना काम हमारा भी कर देना–हमारी वन्दना कह देना। चिट्ठी-पत्री वहाँ तक पहुँचती नही। पूज्य जयमल जी महाराज ने उन्हे पत्र लिखा था, मगर पहुँचाने वाला कोई नही मिला। अतएव वह यही रह गया।

भाइयो! महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान सीमंधर स्वामी अन्तर्यामी है। उनकी अनन्त आत्मिक ज्योति में विश्व का अणु-अणु प्रतिबिम्बित हो रहा है। भावपूर्वक विनति करोगे तो अवश्य पहुँच जायगी। मगर आप तो उन्हे भूल रहे है।

जो जान रहा है अंतर की, अन्तर्यामी को भूल गये।
अफसोस गजब है घर वाले, घर के स्वामी को भूल गये॥

अरे प्राणी! तू उन्हे प्रतिदिन वन्दन करता है या भूल गया? जो घट–घट की बातों को जानता है, उस अन्तर्यामी को भूल गया? हर रोज वन्दन किया कर उन भगवान् को। थोड़ा झुक कर, मन पवित्र करके, भक्ति-भावपूर्वक वन्दना किया कर। अन्यथा एक दिन जलकर भस्म हो जाएगा। क्या उस समय लकड़ो में वन्दन करेगा? उस समय कुछ नही कर सकेगा। जब तक तन मे चेतना है और मस्तिष्क में बुद्धि काम कर रही है, तब तक प्रभु को वन्दन-नमस्कार करके अपने को कृतार्थ कर ले। अरे मूर्ख मन! तू हिचकता और बसकता क्यों है? वन्दन करते–करते तो तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन कर सकता है। इसलिए नम रे नम। क्या ऊँट की तरह गर्दन ऊँची ही रक्खेगा? अरे ऊँट! नमना सीख। नम, नम

और पुनः नम। नहीं नमा तो याद रखना, सचमुच ऊँट बन कर अर्राट किया करेगा। ऊपर से भारी बोझ लादा जायगा। उस समय कोई सुनवाई भी नहीं करेगा। समय रहते चेत जा रे प्राणी! यह अमूल्य अवसर हाथ से निकल गया तो फिर मिलना कठिन है। तुझे मनुष्यभव मिला है सो एक प्रकार से अंधे के हाथ बटेर लग गया है। इस आकस्मिक लाभ का सदुपयोग कर ले। शुद्ध भाव से भगवान् की भक्ति कर ले। संसार में यही एक मात्र सार है और सब कुछ निस्सार है। इसी से परलोक सुधरेगा।

हे प्राणी! तू यह तो जानता ही है कि यह जीवन अनन्त नहीं है। एक दिन इसकी समाप्ति होगी और अवश्य होगी। यह भी निश्चित है कि जीवन की समाप्ति के साथ आत्मा की समाप्ति नहीं होगी। आत्मा को कोई दूसरा जीवन प्राप्त होगा। फिर प्रमाद क्यों करता है? निश्चिन्त क्यों हो रहा है? अगले सफर की तैयारी कर ले। सामान जुटा ले। यह धन-दौलत तो साथ जायगी नहीं। जो वस्तु जाने वाली है, उसे सचित कर ले। अवगुणों को दूर कर। भगवान् की भक्ति कर। परलोक सुधर जायगा और तब आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर (अजमेर)
९-१०-४७



दया देवी का प्रसाद



स्तुतिः—

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख—
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमो वितानं,
बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्त्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

अर्हन्त भगवान के आठ महाप्रातिहार्य होते हैं। देवगण तीन भुवन के नाथ तीर्थंकर भगवान के प्रति अपना आन्तरिक भक्ति-भाव प्रदर्शित करने के लिए इन प्रातिहार्यों की रचना करते हैं। यद्यपि यह प्रातिहार्य तीर्थंकर भगवान् के बाह्य वैभव रूप हैं, तथापि

वे उनके अनन्त आत्मिक वैभव के प्रतीक हैं। प्रस्तुत स्तोत्र मे आचार्य मानतुंग महाराज ने आठों का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। उनमे से अशोकवृक्ष प्रथम प्रातिहार्य है।

भगवान आदिनाथ जहाँ भी विराजमान होते थे, उनके ऊपर अशोकतरु की सघन छाया हो जाती थी। वह अशोक तरु फलों और फूलो से सम्पन्न होता था। बड़ा ही सुन्दर और मनोरम होता था। उसके नीचे विराजमान होते थे भगवान ऋषभदेव। उस समय की वह छटा अनोखी ही होती थी। देखते ही बनती थी। उसका वर्णन करने की शक्ति कवियों में नहीं है।

सघन अशोकवृक्ष की नीलिमा अद्भुत थी। उसके समीप विराजमान प्रभु की काया कंचनवर्णी थी। अतएव वह अनूठा दृश्य देखने वाले को ऐसा प्रतीत होता था, मानो सघन मेघ में से सूर्य निकल रहा है! अहा, कितना सुन्दर रहा होगा वह दृश्य! जिसने देखा, वही निहाल हो गया। वह धन्य हो गया!

ऐसे भगवान ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो!

आठ प्राति-हार्यों में सर्वप्रथम अशोक तरु को स्थान क्यों दिया है? अशोक तरु किस भाव का प्रतीक है? वह क्या सूचित करता है?

जो दुःख, शोक, चिन्ता, फिक्र या आर्त्ति का अन्त कर दे, वह अशोक कहलाता है। संसार के समस्त जीवों के जो नाना प्रकार के व्यापोर दृष्टि गोचर हो रहे हैं, उनके मूल में क्या भावना निहित है, यदि इस तथ्य पर समी-चीन रूप से विचार कर लिया जाय तो उक्त प्रश्न का समाधान होने में विलम्ब नहीं लगेगा।

प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्ति का एक मात्र लक्ष्य है-दुःख और शोक से छुटकारा पाना। दुःख किसी को इष्ट नहीं है, बल्कि सभी को अनिष्ट है। सब प्राणी सुखी होना चाहते हैं और सुख के लिए ही प्रयत्न शील रहते है। यह बात न्यारी है कि उनके प्रयत्न, भ्रम-वश उलटी दिशा में होते है और इस कारण उन प्रयत्नो का फल भी विपरीत ही होता है। बहुत बार सुख के लिए किये गये भगीरथ प्रयत्न दुःख ही उत्पन्न करते हैं। इसका कारण दृष्टि विपर्यास है। समझ का दोष है। फिर भी यह निस्सन्देह है कि उनकी आन्तरिक भावना सुख प्राप्त करने की ही रहती है।

जीव मात्र में सुख के प्रति इतना आकर्षण क्यो है? किस कारण सब को सुख प्रिय लगता है और दुःख अप्रिय जान पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि सुख आत्मा का स्वभाव है, नैसर्गिक गुण है। अपने स्वभाव की ओर आकर्षण होना प्रकृति के अनुकूल है। दुःख आत्मा के स्वभाव से प्रतिकूल है, अतएव वह अनिष्ट है। अज्ञान से अज्ञान प्राणी भी दुःख की कामना नहीं करता। दुःख आ पड़ता है तो उसका निवारण करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार जगत के समस्त प्राणी दिन-रात सुख की प्राप्ति के अर्थ प्रयत्नशील रहते हैं। सब शोक और चिन्ता से दूर रहना चाहते हैं। प्राणी मात्र का यही एक मात्र सर्व-प्रथम ध्येय है। इसी ध्येय की प्राप्ति के लिए अन्यान्य प्रयत्न किये जाते है वस्तुतः इस ध्येय की प्राप्ति वीतराग देव के सान्निध्य से ही हो सकती है। वीत-राग भगवान की शरण ग्रहण करने से ही दुःखों की निवृत्ति होती है और सुख की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय सुख प्राप्ति का अन्य मार्ग नहीं है। इस सचाई को सूचित करने के लिए देवगण भग-

वान् के समीप अशोक वृक्ष का निर्माण करते है और क्यो कि शोक-दुःख से बचना ही सर्व प्रथम उद्देश्य है, इस कारण प्रातिहार्यों मे पहले पहल अशोक वृक्ष को ही स्थान दिया गया है।

अशोक वृक्ष मानों यह घोषणा करता है कि-मै तो नाम से ही अशोक हूँ, असली अशोक तो भगवान् ऋषभदेव हैं। जो पथिक ग्रीष्म के सताप से झुलसते हुए मेरी छाया में आ जाते हैं, उन्हे मै शीतलता प्रदान करता हूँ। वे शान्ति की सांस लेते हैं। उनका कष्ट दूर हो जाता है। मगर यह सब क्षणिक प्रतीकार है। मुझमे यह सामर्थ्य कहाँ है कि मैं सदा के लिए किसी को निस्ताप बना सकूँ? यह गुण भगवान् ऋषभदेव में है। भगवान की छत्रछाया मे आने वाले के समस्त दुःख, शोक, चिन्ता और आर्त्ति आदि का अन्त आ जाता है। वह सदैव के लिए दुःखहीन, अशोक या सुख स्वरूप बन जाता है! भगवान् ही संसार के प्राणियों को सच्चे और स्थायी सुख का पथ प्रदर्शित करते है। इसी रहस्य को प्रकट करने के लिए ही मैं भगवान का अनुसरण करता हूँ।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा निर्दिष्ट सुख का मार्ग क्या है? यह तो आपको विदित ही है कि केवल ज्ञानियों के उपदेश में भिन्नता नही होती। भूतकाल में जो केवली हो चुके हैं, वर्त्तमान काल में जो हैं और भविष्य में जो होंगे, सब का एक ही उपदेश है। उसमें कोई मौलिक अन्तर नहीं हो सकता।

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव को हुए बहुत समय बीत गया है और उनका उपदेश हमारे सामने नहीं हैं, तथापि भगवान् महावीर का उपदेश सौभाग्य से आज भी हमारे समक्ष है और जो चरम तीर्थंकर का उपदेश है, वही प्रथम तीर्थंकर का उपदेश है। अतएव

महावीर के उपदेश को एक प्रकार से भगवान ऋषभदेव का ही उपदेश समझना चाहिए।

तो भगवान का उपदेश क्या है ? श्रीमद् आचारांग सूत्र के शब्दों का आधार लेकर उस पर विचार करें। श्री सुधर्मास्वामी अपने अन्तेवासी जम्बूस्वामी से कहते है—

'जे य अतीता, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो, ते सव्वे वि एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति:—

सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जवेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण किलामेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए, समिच्च लोयं खेयन्नेहिं पवेतिते।'

अर्थात्—जो अर्हन्त भगवान अतीत काल मे हुए, वर्त्तमान काल मे हैं और भविष्यत् में होंगे, वे सब इसी प्रकार कथन करते हैं, इसी प्रकार बोलते हैं, इसी प्रकार समझाते हैं और इसी प्रकार व्याख्यान करते हैं–अर्थात् सब का सिद्धान्त एक ही है। सब की प्ररूपणा समान है। वह क्या है ?

जगत् में जितने भी प्राणी हैं, चाहे वह द्वीन्द्रिय हो अर्थात लट आदि हो, चाहे त्रीन्द्रिय अर्थात् कीड़ी, मकोड़ा, जूं, लीख आदि हो, चाहे चतुरिन्द्रिय अर्थात मक्खी, मच्छर आदि हो, अथवा भूत अर्थात आम नीम लता आदि वनस्पतिकायिक हों, चाहे पंचेन्द्रिय अर्थात नरक के नारक, पांचों इन्द्रियों वाले मच्छ कच्छ

आदि जलचर, गाय भैंस आदि स्थलचर, चील, चिड़िया, कौवा, कबूतर, आदि खेचर, चूहा, नेवला आदि भुजपरिसर्प, साँप, अजगर आदि उरपरिसर्प, कर्मभूमिज अकर्मभूमिज और अन्तर्द्वीपज मनुष्य, चारों निकायों के देव-भवनपति, वैमानिक, वाणव्यंतर और ज्योतिष्क-हों, अथवा सत्व अर्थात् पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय के एकेन्द्रिय हों अर्थात इस संसार में जितने भी प्राणी है, उनमे से किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए। किसी पर हुकूमत नहीं चलाना चाहिए। किसी को दास की भाँति अपने अधिकार में नही रखना चाहिए। किसी को संताप नहीं देना चाहिए, किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिए और किसी को प्राणहीन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अपनी ओर से ऐसा कोई कार्य न करो जिससे किसी प्राणी को तनिक भी कष्ट पहुँचे, उद्वेग हो, सताप हो; किसी की स्वाधीनता में बाधा पहुँचे, प्राणों का विनाश हो। किसी के पूंछ नाक आदि अवयवों को काटना, किसी की आखें फोडना अथवा किसी भी प्रकार से कष्ट पहुंचाना हिंसा है। हिंसा से बचना धर्म है। कल्याण है।

जो लोग मांस, मछली या अंडे का सेवन करते है, वे अहिंसा धर्म का पालन नहीं कर सकते, क्यों कि जीव का घात किये बिना मांस मिल ही नहीं सकता। खेद का विषय है कि आज अपने को आर्य कहने वाले लाखों-करोडो हिन्दू भी मास का भक्षण करते है। वे लम्बे-लम्बे तिलक और छापा लगाते है और मास खाने की लोलुपता का भी त्याग नहीं कर सकते। यह कितनी लज्जा की बात है! कहना चाहिए कि ऐसे लोगों ने धर्म को पहचाना ही नहीं है।

जो अंडे खाते हैं, कबूतर जैसे सीधे-सादे भोले प्राणियों का भी मास खा जाते है, बकरे को पेट मे डाल लेते हैं, मछली को

हजम कर जाते है और खा-पीकर ठाकुरजी के सामने पड़ कर साष्टांग नमस्कार करते हैं, वे क्या वैकुंठ पा सकते हैं ? क्या ठाकुर जी ऐसे हिंसकों, निर्दयों और जिव्हा लोलुपों को स्वर्ग में भेज देंगे ? अगर ऐसे लोग स्वर्ग में चले जाएँ तो नरक में कौन जाएगा ? फिर तो नरक का द्वार ही बंद हो जाएगा !

भाइयो! जरा धर्म को पहचानो। धर्म के अनेक रूप हैं, मगर दया उन सब से प्रथम और उत्तम है। दया से बढ़ कर कोई धर्म नहीं है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि के मूल में भी दया देवी का ही प्रतिबिम्ब झलकता है। जहाँ दया नहीं, वहाँ कोई धर्म नहीं टिक सकता। समस्त धर्मों में प्राण संचार करने वाली भगवती दया ही है। दया से ही समस्त धर्मों का प्रारंभ होता है। दया के सद्भाव से ही अन्य धर्म पनप सकते हैं। दया के अभाव में कोई भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

यह अहिंसा धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। यह शाश्वत धर्म है, मत समझो कि कभी यह धर्म नहीं रहता है। यही धर्म शुद्ध है, सनातन है और नित्य है।

सच तो यह है कि विश्व अहिंसा के आधार पर ही स्थित है। अगर संसार में से दया-अहिंसा थोडी देर के लिए भी उठ जाय तो तत्काल प्रलय की स्थिति उत्पन्न हो जाय। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि अहिंसा धर्म तब से ही चला आ रहा है, जब से जगत् है और तब तक प्रचलित रहेगा जब तक जगत् है। जगत् की आदि नहीं और अन्त भी नहीं है। अतएव अहिंसा धर्म भी अनादि-अनन्त है। ज्ञानी महात्माओं ने सम्यक प्रकार से लोक के स्वरूप को जान कर इस धर्म का, उपदेश दिया है।

मनुष्य का पेट दुखता है तो वह अपनी वेदना को वाणी द्वारा प्रकट कर देता है और उसका उपचार हो जाता है। छह महीने के बच्चे का पेट दुखता है तो वह रोने लगता है और उसकी चिकित्सा की जाती है। गाय भैंस के पेट में तकलीफ होती है तो वह चारा चरना बंद कर देती है और उसकी भी दवा हो जाती है। कीड़े-मकोड़े रोगग्रस्त होने पर चलना-फिरना बंद कर देते हैं और एक जगह स्थिर हो जाते है। इससे पता चल जाता है कि इन्हे तकलीफ महसूस हो रही है। मगर पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और तेजस्काय के एकेन्द्रिय जीवों को तकलीफ होती है तो कौन जानता है ? हम चर्मचक्षु जन इन जीवों की वेदना को समझ नहीं पाते, फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि इन्हे वेदना होती ही नही है। उनके शरीर में भी वैसी ही आत्मा स्थित है, जैसी हमारे शरीर में। उस आत्मा और इस आत्मा में कोई अतर नहीं है। जैसे हमें सुख इष्ट और दुःख अनिष्ट है, उसी प्रकार उन्हे भी सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है। यह बात हम तर्क के द्वारा समझ सकते हैं और दिव्यज्ञानी प्रत्यक्ष देखते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष देख कर जो फर्माया है, उसका उल्लेख भी आचारांग सूत्र में किया गया है। प्रथम श्रुतस्कध के प्रथम अध्ययन द्वितीय उद्देशक में कहा है—

नाक कान आदि अवयवों से हीन एकेन्द्रिय जीव किस प्रकार वेदना का अनुभव करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे जन्म से अधे, बहिरे, गूंगे लगड़े और अवयवहीन किसी मनुष्य को कोई निर्दय भाला आदि शस्त्रों से पाँव, पिंडली, घुटने, जघा, कमर, नाभि, छाती आदि अग-अंग में छेदन-भेदन करे तो उसे वेदना तो अवश्य होती है, फिर भी वह उस वेदना को प्रकाशित नहीं कर सकता। प्रकाशित करने की शक्ति न होने के कारण ही

यह मानना उचित नहीं है कि उसे वेदना होती ही नहीं है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय आदि को भी छेदन-भेदन करने से वेदना की अनुभूति तो अवश्य होती है, फिर भी वे उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

एकेन्द्रिय जीवों को सिर्फ एक स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्त है। जिह्वा आदि इन्द्रियो से वे सर्वथा वंचित हैं। इस कारण बेचारे असमर्थ है और दया के पात्र है। उनकी हिंसा पूरी तरह त्यागी न जा सके तो भी कम से कम निरर्थक-निष्प्रयोजनहिंसा का त्याग तो करना ही चाहिए।

कोई-कोइ लोग दया, करुणा और अहिंसा का दायरा मनुष्यों तक ही सीमित कर देते है। वे कहते है-मनुष्यों को न मारना धर्म है हाँ; गाय, भैंस, बकरी आदि को मार कर भले खा जाओ। कोई मनुष्यों और जानवरों को ही न मारने मे धर्म कहते है। कीड़ी-मकोड़ा मर जाय तो कोइ हर्ज नहीं है। बहुत कम ऐसे हैं जो स्थावर जीवों को पहचानते और उनकी भी दया पालने का विधान करते है। दादूपंथी कहते हैं—

दादू सूखा सेज है, आला भांजे नाय।
काया को दुख दीजिए, साहब सब के मांय॥

और भी कहा गया है:—

जले विष्णुः स्थले विष्णु-र्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत्॥

विष्णु का अर्थ है जीव, पृथ्वी मे, पानी में, पर्वत में और अग्नि में जीव है। सारा जगत् जीवमय है।

मुसलमानो के कुरान मे तो कहीं ऐसा जिक्र नहीं है लेकिन उनके पैगम्बरो ने जो हिदिरशा बनाये हैं, वहाँ अवश्य लिखा है— 'कत्ले शिदर'। अर्थात हरे वृक्षों-दरख्तों को मत काटो।

मगर आज तो हिन्दुओ और मुसलमानो-दोनो ने ही मजहब को छोड़ दिया है। तभी तो गाजर-मूली की तरह मनुष्यो को काट फैकते है। कहाँ भागवत और गीता रही और कहाँ कुरान रहा! इस समय तो मनुष्य अपने विवेक को सर्वथा भूल चुका है।

भगवान् महावीर ने दया का जो वर्णन किया है, उसकी सीमा बहुत विशाल है। कहना चाहिए कि जितनी चाहिए उतनी है, भगवान कहते हैं-हे प्राणियो ! तुम उघाड़े मुँह भी मत बोलो, अन्यथा वायु काय के जीवों की हिंसा का पाप लगेगा। हवा के लिए पंखा झलना भी पाप है। पृथ्वी पानी और अग्नि नजर आ जाती है और समझने वाले उनमें जीव का अस्तित्व भी समझ लेते हैं; परन्तु वायु के जीव तो किसी भी प्रकार नजर नहीं आते। उन पर दया करने से क्या ? लेकिन नहीं, यह तो केवली के वचन है। उन वचनों पर जिसे श्रद्धा है,वही इन पर दया कर सकता हैं। श्रद्धा के बिना कौन दया कर सकता है ?

यही कारण है कि जैन साधु भयंकर से भयकर गर्मी पड़ने पर भी पखा नहीं झलते और कितनी ही सर्दी पड़ने पर भी आग नहीं तापते। पंखा झलने से और आग प्रज्वलित करने से जीवों की हिंसा अवश्य होती है। अतएव ऐसा करने वाले दया का पालन नहीं कर सकते। इस प्रकार की दया वही कर सकता है, जिसके हृदय में वीतरागसर्वज्ञ के वचनों के प्रति पूर्ण आस्था है। मांसभक्षी तो जीव का अस्तित्व ही उसमें नहीं मानते। कहते हैं—इसमें जीव

कहाँ दिखाई देता है ? मगर पाप के कारण जिनको दृष्टि मलीन हो गई है, उन्हें जीवों का अस्तित्व कैसे दिखाई देगा ?

कोई कहे–'हम आपको पाँच रुपया देंगे, आप एक कोड़ा खा लीजिए, ।' तो क्या कोई भी समझदार जैन या वैष्णव ऐसा करेगा ? वदरीफल (बोर-बेर) छोटा फल है और उसमें प्रायः दो-दो चार--चार लटें पड जाती हैं। कई लोग कहते हैं--अजी, क्या रक्खा है इस गहराई में उतरने में ! लटके कोई हड्डियाँ थोड़े ही होती हैं ! मगर उनकी यह नादानी दया के योग्य है। कहा है—

मत खाओ रे बोर जन्म बिगड़े, मत खाओ ।
एक-एक बोर में कितनी है लट्टां,
आँखां खोल देखो सिगरे ॥

भाइयो ! एक--एक बोर मे अनेक लटे होती हैं। असावधानी में-बोर के साथ लटें भी गटक ली जाती हैं। अतएव विवेक--शील मनुष्यों को हिंसा से बचने के लिए बहुत सावधान रहना चाहिए। खान--पान, उठना--बैठना, चलना--फिरना आदि सभी क्रियाएँ यतना के साथ करनी चाहिए और हिंसा से बच कर जीव दया को पालन करना चाहिए।

आज संसार में जो दुःख व्याप रहा है, उसका कारण हिंसा ही है हिंसा की वृद्धि के साथ दुःखों की भी वृद्धि होती है, यह अकाट्य सिद्धान्त है। जहाँ हिंसा है, वहाँ वैर--विरोध है, मार-काट है, छीनना--झपटना है, अतएव संताप है, अशान्ति है, व्याकुलता है, परेशानी है। शान्ति नहीं है।

ज्ञानी जनों ने हिंसा-अहिंसा के संबंध मे बहुत गहरा विचार किया है। उन्होंने हिंसा के कारणों की भी खोज की है और बतलाया

है कि हिंसा छह कारणों से की जाती है। भगवान् ने श्रीमद् आचारांग सूत्र में इस प्रकार फर्माया है—

'इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण–माणण–पूयणाए, जाइमरणमोयणाए, दुक्खस्स पडिग्घायहेउं ।'

प्रथम तो मनुष्य अपनी आयु बढ़ाने के लिए हिंसा करता है। कई लोग देवी–देवताओं के सामने बलि चढ़ाते हैं कि मेरी उम्र लम्बी हो जाय। कोई–कोई अपने पुत्र आदि के जीवन की रक्षा के लिए भी ऐसी ही बलि देते हैं। अपने शरीर में दूसरे जानवर का खून भरवाते है अथवा बंदर के अण्डकोष लगवाते हैं। कई लोग जानवरों की जबान खा जाते है। कई लोग प्रशंसा के लिए हिंसा करते हैं। कहते है–देखो, मैं एक ही झटके में गर्दन उड़ा देता हूँ। कोई–कोई मान के लिए हिंसा करते है, जैसे–मैं यह हिंसा नहीं करूँगा तो मेरी बात नहीं रहेगी। कोई-कोई यश–कीर्त्ति की प्राप्ति के लिए हिंसा करते हैं। कई छह काया का आरंभ करके समझते है कि हमें मोक्ष मिलेगा। केले के झाड़ को काट–काट कर धूप देते हैं और समझते हैं कि हम मोक्ष में चले जाएँगे। कई लोग अपने दुःख का प्रतीकार करने के लिए हिंसा का आश्रय लेते हैं। 'यदि मेरा लड़का जीवित रह जायगा तो एक पाड़ा मारूँगा अथवा बकरा चढ़ाऊँगा' इस प्रकार की मनौती मनाता है। अपने हाथ से हिंसा करने में ग्लानि होती है तो दूसरे से कह कर करवाता है। किन्तु इस प्रकार एक की जान लेने से दूसरे की जान बच जाती तो सदैव जीवित रहने का सरल उपाय पाकर कौन न जीवित रह लेता? राजा–महाराजा लाखों जीवों की हिंसा करवा सकते हैं। मगर इस भूतल पर आज तक कोई सशरीर अमर नहीं रह सकता।

बात लोग उलटी समझ बैठे है। हिंसा से वास्तव मे कोई अच्छाई नहीं उत्पन्न हो सकती। भगवान् ने फर्माया है कि जो हिंसा करेगा, वह स्वयं उस हिंसा के कारण दुखी होगा। बार-बार जन्म-मरण करेगा। उसे अगले जन्म में सम्यक्त्व भी दुर्लभ होगा। हिंसा अन्ततः हिंसक के लिए ही काल रूप सिद्ध होती है।

भाइयो! हिंसा के फल अत्यधिक कटुक हैं। वर्त्तमान मे भी और भविष्य में भी हिंसा दुःख, संताप और अशान्ति ही उत्पन्न करती है। ऐसा समझ कर हिंसा से बचो और जीवों की दया करो। व्यक्ति, समाज और देश अहिंसा से ही शान्ति और सुख का अनुभव कर सकता है। इस लिए सुख चाहते हो तो कड़वे काचरे की बेल मत बोओ। हिंसा जहरीली बेल है और उस बेल में फल जहरीले ही लगते है।

दया से क्या होगा?

दया की बोवे लता शुभ फल वही नर पाएगा।
सर्वज्ञ का मन्तव्य है, गर ध्यान में जो लाएगा॥
आयु दीर्घ होता सही, अरु श्रेष्ठ तन पाता वही।
शुद्ध गोत्र कुल के बीच में, फिर जन्म भी मिल जाएगा॥

याद रक्खो, जो दया करके आये है, जिन्होने दया की बेल बोई है, उन्हे कैसा फल मिलेगा? वह जीव जहाँ जन्म लेगा, वहाँ उसकी आयु लम्बी होगी। वह जन्म लेते ही नहीं मरेगा, अल्पायु भी नहीं होगा। कोई दुश्मन आग मे फैंक देगा तो भी वह नहीं जलेगा। पानी मे भी वह नहीं डूबेगा। क्यो कि वह दया पालकर आया है। जब भीम बच्चा था तो दुर्योधन आदि उसे लताओं से

बाँध कर पानी में डालकर चले आये थे। लेकिन भीम मरे नहीं। बंधन तोड़ कर घर आ गये। मशीनगन से भी वह नहीं मर सकता, क्यों कि वह पुण्यवान् जीव है। उसकी आयु को देवता भी नहीं तोड़ सकता। देखो प्रद्युम्न कुमार को ले गये थे मारने के लिए. मगर वह मरा नहीं। जानते हो, किसने उसकी रक्षा की थी ? उसका पुण्य ही उसका सहायक बना था।

राजा विक्रमादित्य का नाम भारत का बच्चा-बच्चा जानता है। उनके नाम पर आज भी संवत् चल रहा है और वह संवत् आजकल भी काफी प्रसिद्ध है। विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे। वह बड़े पुण्यवान् थे। उनका संक्षिप्त वृत्तान्त जानने योग्य है।

उज्जयिनी-नरेश ने एक बार ज्योतिषियों से पूछा कि मेरी गद्दी का उत्तराधिकारी कौन होगा ?

ज्योतिषी बोले—आपकी लड़की का लड़का।

राजा को इस उत्तर से प्रसन्नता नहीं हुई, बल्कि दुःख हुआ। उसने सोचा-मेरे बाद मेरे सिंहासन पर तो मेरा पुत्र ही बैठना चाहिए। न कि दौहित्र। यह सोच कर राजा ने मन में विचार किया—अगर लड़की के लड़के को कत्ल करवा दिया जाय तो सारा झगड़ा ही मिट जाय। न रहे बांस न बजे बांसुरी। कहा है—

न लोहा ही रहेगा तो, बनेगी फिर छुरी क्यों कर।
न होगा बांस ही तो फिर, बजेगी बांसुरी क्यों कर॥

उस समय विक्रमादित्य छोटी उम्र में थे। राजा को फिर न जाने क्या सूझा कि उसने उसे कत्ल न करवा कर एक दासी के साथ

टोकरी में रख कर परदेश भेज दिया। दासी को हिदायत कर दी गई कि इसे लेकर दूर देश में चली जाना, जहाँ तुझे कोई भी न पहिचानता हो।

दासी बालक को लेकर चली गई। कुछ दिनों बाद राजा का देहान्त हो गया।

दासी बच्चे के साथ परदेश में थी और उज्जैन की गादी खाली पड़ी थी। कोई राजा नहीं था। राजा के अभाव में शासन अव्यवस्थित हो गया और अराजकता फैल गई। तब मंत्री आदि राज्याधिकारियों ने इस विषय में विचार किया और निश्चित किया कि कोई न कोई गादी पर अवश्य होना चाहिए। किसी योग्य अधिकारी व्यक्ति को राजसिंहासन पर आसीन करना चाहिए।

जब एक को सिंहासन पर बिठलाया गया तो वह दिन भर ही राज्य कर सका। रात्रि में उसके प्राण-पखेरु उड़ गये।

इस घटना के पश्चात् अधिकारियों ने विचार किया-एक-एक घर की बारी बाँध दी जाय और एक-एक दिन के लिए राजा बनाया जाय। कुछ दिनों तक यही क्रम चला। मगर इस व्यवस्था से शासन में गड़बड़ी होने लगी। इसके अतिरिक्त जिसे एक दिन के लिए राजा बनाया जाता था, शाम को गद्दी से उतरते समय उसे बहुत दुःख होता था और वह रात्रि में खत्म हो जाता था।

इस प्रकार प्रत्येक प्रभात में नये राजा को सिंहासन पर आसीन किया जाता और प्रत्येक रात्रि में उसके प्राणों का अन्त हो जाता। कई राजा मर चुके थे। मगर इलाज क्या था?

उस समय विक्रमादित्य बारह वर्ष का हो चुका था। वह लड़कों के साथ खेलता और अपना समय व्यतीत कर रहा था।

वह दासी, जो विक्रमादित्य के साथ आई थी, चुपचाप उज्जयिनी का रंगढंग देखने के लिए एक बार उज्जयिनी आई। मगर अचानक वहीं उसका भी देहान्त हो गया।

बच्चा अब अकेला था। दासी उसे एक पड़ौसी को सिपुर्द करके आई थी। पड़ौसी उसका पालन कर रहा था। जब बालक अन्य बालकों के साथ खेलता तो वे उसे चिढ़ाने के लिए कहते-तेरे तो माँ-बाप का भी पता नहीं है !'

बालक को यह वाक्य शूल-सा चुभ गया। उसने मन ही मन अपने माता-पिता के पता लगाने का निश्चय कर लिया। मगर कठिन समस्या थी उसके सामने। कहाँ जाय और किससे पूछे कि मेरे माता-पिता कौन हैं ? कहाँ है ? लोग यह प्रश्न सुनते ही हँसेंगे और उनको हँसना मैं कैसे सहन कर सकूँगा ? लोग बताना चाहेंगे भी तो कैसे बतलाएँगे ? कौन जानता है मेरे माता-पिता को ?

इस प्रकार सोच-विचार में डूबा वह बालक वहाँ से चल पड़ा। भाग्य उसे मालवा की ओर खींच कर ले आया। वह मालवा में भटकता-भटकता अकस्मात् उज्जयिनी में जा पहुँचा। बारह वर्ष का वह बच्चा उज्जयिनी के एक कुंभार के घर पर जाकर बैठ गया।

बालक की आकृति में ऐसी कुछ विशेषता थी कि वह अनायास ही अपरिचित को भी अपनी ओर खींच लेती थी। उसके मुखमण्डल पर अनूठी भव्यता विराजमान थी। यद्यपि बालक अचानक ही कुंभार के घर आ धमका था और अकेला ही था, तथापि कुलीनता उसके चेहरे पर स्पष्ट चमक रही थी। वह दीन और अनाथ नहीं जान पड़ता था। वह तेजस्वी प्रतीत होता था।

कुंभार ने लड़के को प्रेम से बिठला कर पूछा-भोजन करना है न ?

लड़के ने संकोच न करके स्पष्ट 'हाँ' भर ली ।

कुंभार ने उसे भोजन कराया और सोने को एक गूदड़ी दे दी । लड़का थका-मांदा आया था । गहरी नींद में सो गया ।

'पिछली रात्रि हुई तो कुंभारिन रोने लगी । वह बहुत बुरी तरह रोई । उसके रोने का कारण यह था कि प्रभात होते ही उसके लड़के को राजा बनना था और राजा बनने का अर्थ था-अगली रात्रि मे इस दुनिया से कूच कर जाना ।

रोना दो प्रकार का होता है--दिखावटी रोना और दिली रोना । भीतर से रोना न आने पर भी रिवाज के तौर पर या लोकदिखावे के लिए रोना दिखावटी रोना है और दिली रोना वह असली रोना है जिसे सुन कर दूसरों को भी रुलाई आये बिना नहीं रहती । कुंभारिन अपने बेटे के सन्निकट वियोग के दुःख से असली रोना रो रही थी । उसका रोना सुन कर आगत बालक की नींद भंग हो गई और उसने पूछा--माँ क्यों रो रही हो ?

बहुत पूछने पर उसने बतलाया—आज मेरे बेटे की राजा बनने की बारी है ।

बालक—तुम्हारा बेटा राजा बनेगा तो इसमें रोने की क्या बात है ? हर्ष मनाना चाहिए ।

कुंभारिन—बेटा, तू नहीं जानता । जो राजा बनता है, वह दिन भर तो जीवित रहता है, मगर रात्रि में मर जाता है ।

बालक—राज्य तो एक घंटे के लिए मिलना भी अच्छा ही है। भाग्य से मिलता है।

कुंभारिन—हमें ऐसा राज्य नहीं चाहिए। मेरा इकलौता लड़का है। जब वही नहीं रहेगा तो मै किसके सहारे अपना शेष जीवन व्यतीत करूँगी ?

बालक—तो मना कर देना।

कुंभारिन—मना कोई नहीं कर सकता। यहाँ तो जबर्दस्ती राजा बनना पड़ता है।

बालक—क्या तुम्हारे लड़के के बदले में राजा बन सकता हूँ।

कुंभारिन—हाँ, ऐसा हो सकता है। परन्तु अपने लड़के के प्राणों की रक्षा के लिए तेरे प्राणो को संकट में डालना उचित नहीं है। तू हमारा अतिथि है, अतः तू भी बेटे के समान ही है।

बालक—मै अकेला हूँ। मेरे माँ-बाप नहीं है। मेरे पीछे कोई रोने वाला भी नही है। माँ, मैं तेरे दुःख को मिटाना चाहता हूँ। तू ने मुझे भोजन दिया है, इसका बदला भी चुक जायगा।

बालक की यह उदारता और निर्भीकता की बात सुनकर कुंभारिन ने उसके चेहरे की ओर देखा। उसने देखा कि इसकी लम्बी-लम्बी भुजाएँ है, चौड़ा ललाट है, वक्षस्थल विशाल है और मुखमंडल पर विशिष्ट तेज है। यह देखकर वह कहने लगी—बेटा, तेरे ऊपर भी बड़ी मुहब्बत होती है !

बालक—मुहब्बत का नाम भी मै नही जानता। आज तक मैंने किसी की मुहब्बत नही पाई। मैं तुम्हारे लड़के की प्राणरक्षा कर सका तो जीना सफल समझूँगा।

कुंभारिन चुप रह गई। वह कुछ भी निर्णय न कर सकी। किंकर्त्तव्य मूढ़ हो रही।

प्रभात हुआ। हाथी, घोड़ा, रथ, फौज आदि कुंभार के द्वार पर आ पहुँचे। दीवान आदि राज्याधिकारी साथ ही थे। उनमें से एक ने कहा-कुंभारिन, अपने लड़के को ले आ। उसकी आज वारी है।

उसी समय अभ्यागत बालक सामने आकर खड़ा हो गया। उसने कहा-उसके बदले आज मैं राजा बनूँगा।

अधिकारियो को कोई आपत्ति नहीं हुई। उन्होंने देखा-यह बालक निर्भय है और राजलक्षणों से सम्पन्न भी है। इसे राजा बना देने मे क्या हर्ज है!

नाई ने हजामत बनाई। स्नान के अनन्तर सुन्दर और बहुमूल्य राजसी पोशाक पहनाई गई। गले मे हीरे माणिक और मोतियों के कंठे डाले गये। तत्पश्चात् राज्याधिकारी ने कहा—इन्हें हाथी के हौदे पर बिठलाओ।

इतना कहते ही हाथी ने स्वयं अपनी सूंड से उसे हौदे पर बिठला लिया। लोग यह अभूतपूर्व दृश्य देख कर चकित रह गये और नाना प्रकार की कल्पनाएँ करने लगे। बालक गौरव के साथ गज पर आरूढ़ हो गया।

जुलूस दरबार में पहुँचा। नजराने, निछावर, भेंट आदि की रस्म अदा की गई। दिन व्यतीत हुआ। संध्या हुई और सब लोग जाने लगे। पैर दाबने वाला भी भागने लगा। राजा ने पूछा-कहाँ जाते हो? वह बोला-हम अब नहीं ठहरेंगे।

राजा—क्यो? भागने का कारण बतलाओ।

वह बोला—रात्रि को यहाँ एक देवता आता है और वैताल। वह गादी पर बैठने वाले को मार डालता है।

राजा—तुम डरो मत और यह बतलाओ कि वह किस रास्ते से आता है ?

उसने उत्तर दिया—यह तो मालूम नहीं।

राजा—अच्छा, एक बढ़िया तलवार ले आओ।

नौकर तलवार ले आया। तब राजा ने कामदार को बुला लाने का आदेश दिया। समय शेष था, अतएव कामदार आ गया। राजा ने आदेश दिया-नगर के सभी द्वार खुले रहें। सब दरवाजों और सड़कों पर चमेली और गुलाब आदि के फूल बिछा दिए जाय। सारे बाजार सजे हुए होने चाहिए। हलवाइयों की दुकानें भी खुली रहें। मेरे इस आदेश का बराबर पालन होना चाहिए।

आज्ञानुसार कामदार ने व्यवस्था कर दी। यथासमय देवता आया और सर्वत्र फैली सुगंध और बाजार की शोभा देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और 'खाऊँ खाऊँ' करता राजमहल में आया। राजा हाथ में खड्ग लेकर तैयार बैठा था। देवता ने उसके समीप आकर कहा—लड़के, मै बहुत प्रसन्न हूँ। तूने मेरा अच्छा स्वागत-सत्कार किया है। कुछ पूछना चाहे तो पूछ ले।

राजा—अच्छा, आप कहते है तो बतलाइए कि मेरी उम्र कितनी है ?

देवता ने सोचा-उत्तर न दूँगा तो मेरी बात झूठ होगी। तब उसने महाविदेह क्षेत्र में जाकर सीमंधर स्वामी से उसकी उम्र पूछी। सीमन्धरस्वामी ने उसकी उम्र एक सौ बीस वर्ष की बतलाई। देवता ने लौट कर उसे उम्र बतला दी।

देवता ने कहा—अब मैं तुझे मारूंगा।

बालक राजा ने कहा—अब तुम मुझे क्या मारोगे, मैं ही तुम्हें मार डालूँगा।

यह कह कर राजा ने देवता की चोटी पकड़ ली। देवता ने छुड़ाने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसने नहीं छोड़ी। अन्त में राजा ने कहा—जब तक मैं सिंहासन पर हूँ, तब तक बराबर मेरी नौकरी में रहने की प्रतिज्ञा करो तो चोटी छोड़ सकता हूँ।

देवता ने वचन दे दिया। वह चला गया। राजा निःशंक हो सो गया और ऐसा सोया कि सूर्य निकल आया। राज्याधिकारियों ने सोचा—चल कर कल के राजा का क्रिया-कर्म करना चाहिए।

नित्य के क्रमानुसार वे वहाँ पहुँचे तो देखा कि राजा तो खुर्राटे ले रहा है! कामदार के जगाने पर राजा जाग उठा।

दरबार का समय हुआ तो हजारों-लाखों दर्शकों की भीड़ हो गई। तीन दिन तक हाथी के हौदे पर सवारी निकली। सारा नगर यह दृश्य देखने को उमड़ पड़ा।

देखो, वीर विक्रमादित्य हुए तो पर के दुःख के काटने वाले हुए। उज्जैन में आते ही कुंभारिन का दुःख दूर किया। राजगद्दी पर बैठ कर न जाने कितने प्रतिदिन मरने वालों के प्राण बचा दिये। मगर प्रश्न तो यह था कि ऐसा क्यों हुआ? जो दया पाल कर लम्बा आयुष्य लेकर आया है, उसे देवता भी नहीं मार सकता। उसका शरीर सुन्दर और हृष्टपुष्ट होता है। शरीर में कोई कसर नहीं होती। जो खाता है वही भस्म हो जाता है। कभी अजीर्ण होने का अवसर नहीं आता। यह सब दया माता का प्रताप है—

घर खूब धन धान्य हो, अति वदन में बलवान् हो।
पदवी मिले है हर जगह, स्वामी बड़ा कहलाएगा ॥

उसका जन्म भी वहीं होता है जहाँ उच्च गोत्र और प्रतिष्ठित कुल होता है। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव नहीं अनुभव होता। यह नहीं कि लड़के की सगाई करनी है और पाँच जेवर चढ़ाने हैं तो एक मामा से और एक साढ़ू से माँगता फिरे। दयावान् को किसी से याचना नहीं करनी पड़ती। वह शरीर से बलवान् होता है। सर्वत्र सत्कार पाता है। उच्च कोटि की पदवियाँ पाता है और स्वामी बन कर रहता है।

जीवहिंसा का मोटा टोटा,
खाने को नहीं मिलेगा रोटा।
बहुत पड़ेंगे सिर पर सोटा,
ले ले दया धर्म का ओटा।

हे प्राणी! तुझे सुखी होना है तो दयाधर्म की शरण में जा। दयाधर्म अंगीकार नहीं करेगा तो भविष्य में तेरा बुरा हाल होगा। सब प्रकार से दुःख भोगना पड़ेगा। भरपेट भोजन तक नहीं पाएगा। इसके विपरीत, अगर दया धर्म का पालन करेगा तो सर्वत्र सन्मान और गौरव पाएगा। कभी गुलाम नहीं बनेगा। जब बनेगा तो ठाकुर या अफसर ही बनेगा।

आरोग्य तन रहता सदा, त्रिलोक में यश विस्तरे।
संसार रूप समुद्र को, आराम से तिर जायगा ॥

जो दया धर्म का पालन करेगा, उसके शरीर में किसी भी प्रकार का रोग नहीं रहेगा। तीनों लोकों में उसकी प्रशंसा होगी।

वह सहज ही संसार-समुद्र को पार कर लेगा, जैसे भरत महाराज को महल में ही केवलज्ञान हो गया था।

गुरु के प्रसाद से यूं चौथमल कहता तुम्हें।
दया-रस भीने पुरुष के, इन्द्र भी गुण गायगा॥

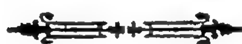
जिसका अन्तःकरण दया के जल से भीगा है, जिसके हृदय में दया की तरंगें बहती हैं, इन्द्र भी उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करता है।

सोचो भाइयो! जरा ठंडे दिल से सोचो, शान्त चित्त होकर सोचो, एकाग्र होकर सोचो। जो प्राणी, भूत, जीव और सत्व को कष्ट नहीं देगा, वही इस जन्म में और आगामी जन्म में सुखी होगा। यह भगवान् वीतराग द्वारा प्रतिपादित अहिंसाधर्म है। इसका पालन करने वाला जहाँ जायगा वहां सुख पायगा। ऐसा विचार कर दया धर्म का पालन करो। अन्तःकरण में करुणा का संचार करो। कोमल वृत्ति धारण करो। दया धर्म का पालन करोगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर (अजमेर) }
१०-१०-४७ }



गुरु-भक्ति



स्तुतिः—

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

प्रभो! आप जहाँ विराजते हैं वहां देवगण सिंहासन की रचना कर डालते हैं। वह सिंहासन भी साधारण नहीं होता। उसमें अनेक प्रकार की मणियाँ जड़ी रहती है। उन मणियो की नानावर्ण किरणों से वह चित्र--विचित्र दृष्टिगोचर होता है। इधर

प्रभु का शरीर कंचनवर्णी है। वह उस सिंहासन पर ऐसा सुशोभित होता है, मानो उच्चतर उदयाचल पर सूर्य का बिम्ब सुशोभित हो रहा हो।

भगवान् के आठ प्रातिहार्यों में दिव्य सिंहासन भी एक प्रातिहार्य है। तीर्थंकर भगवान् उस सिंहासन पर विराजमान होकर बारह प्रकार की परिषद् को धर्म का उपदेश देते हैं। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हें मेरा बार-बार नमस्कार हो।

जहाँ तरतमता होती है, न्यूनाधिकता होती है। संपूर्णता में विविधता के लिए कोई स्थान नहीं होता। ज्ञान के विषय में भी यही सिद्धान्त लागू है। अल्पज्ञ जीवों का ज्ञान अधूरा होने के कारण विविध प्रकार का होता है, किन्तु सर्वज्ञों के ज्ञान में एकरूपता ही होती है। अतएव जितने भी सर्वज्ञ हैं, सब का ज्ञान एक-सा होता है।

वस्तुतः प्रत्येक आत्मा विज्ञानघन है, ज्योतिःस्वरूप है, चिन्मय है, ज्ञान के असीम आलोक से सम्पन्न है और सर्वज्ञ रूप है। किन्तु वह ज्ञान, ज्ञानावरण कर्म के उदय से आच्छादित हो रहा है। किन्तु जितना-जितना ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है, उतना ही उतना वह प्रकट होता है। क्षयोपशम सब का एक-सा नहीं होता, अतएव उसके अनुसार प्रकट होने वाला ज्ञान भी एक-सा नहीं होता। किन्तु विशिष्ट धर्मसाधना के द्वारा जब ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, तब ज्ञान अपने मूल स्वरूप में प्रकाशित होने लगता है। उस समय ज्ञान की अपूर्णता नहीं रहती और पूर्ण होने के कारण वह अनन्त होता है। यही कारण है कि सब सर्वज्ञ समान रूप से अनन्तज्ञानी होते हैं।

ज्ञान यथार्थ होने पर और सदृश होने पर भी कभी-कभी काषायिक विकारों के कारण प्ररूपणा में अन्तर पड़ जाता है। मान लीजिए, दो मनुष्य समान रूप से किसी बात को जानते हैं। मगर उनमें एक सरल, सच्चा और भद्र है। वह जैसी बात जानता है, वैसी ही कहता है। दूसरा वक्र है, कपटी है और स्वार्थी है। वह अपने स्वार्थ-साधन के लिए उसी बात को दूसरे रूप मे प्रकट करता है। यद्यपि दोनों का ज्ञान समान है, मगर दोनो की प्ररूपणा में पार्थक्य होने का कारण उनके विकारों का वैसादृश्य है।

तीर्थंकर भगवान् सर्वज्ञ होने के अतिरिक्त वीतराग अर्थात् सर्वथा निर्विकार भी होते है। पहले वीतरागदशा प्राप्त होती है, फिर सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। कदाचित् ज्ञान पूर्ण हो जाय और निर्विकार अवस्था प्राप्त न हो तो वह ज्ञान अत्यन्त अनर्थकर सिद्ध हो। मगर ऐसा कभी होता नहीं है। अतएव सब सर्वज्ञ निर्विकार ही होते हैं।

जहाँ सर्वज्ञता है वहाँ वीतरागता अवश्य होती है। इन दोनों विशेषताओं के कारण अन्यथा प्ररूपणा के लिए किंचित् भी अवकाश नहीं है। इसी कारण श्रीमद् आचारांग सूत्र में कहा है:—

तमेव सच्चं णीसंकं,
जं जिणेहिं पवेइयं।

अर्थात्—वीतराग भगवन्तो ने जो तत्त्व प्रतिपादित किया है, वही सत्य है और उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है। उस पर पूर्ण आस्था रखना चाहिए।

इस प्रकार भगवान् आदिदेव ऋषभनाथ ने जो उपदेश दिया, वही पश्चाद्वर्त्ती तेईस तीर्थंकरों ने भी दिया है। वर्त्तमान अवसर्पिणी

काल की चौवीसी का जो उपदेश है, वही भूतकालीन सब तीर्थंकरों का है और भविष्यकालीन तीर्थंकरों का होगा। जो उपदेश भरत क्षेत्र के तीर्थंकरो का है, वही विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का है। जो उपदेश जम्बू द्वीप के तीर्थंकर भगवन्तो ने फर्माया है, वही धातकीखण्ड और पुष्करार्ध के तीर्थंकरों ने फर्माया है। उस उपदेश मे कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, क्यों कि उन सब का ज्ञान समान है। इसके अतिरिक्त वस्तुतत्त्व भी सर्वत्र और सर्वदा एक सा है।

इस क्षेत्र और इस काल में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी हुए। उन्होंने भी यही उपदेश दिया जो अन्य तीर्थंकर देते आये थे।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि विभिन्न कालो और क्षेत्रों में परिस्थिति के अनुसार बाह्य विधिविधानो में किंचित् अन्तर भी होता है, परन्तु मूल तथ्य सदा अपरिवर्त्तित रहते हैं।

भगवान् महावीर इस दुनिया में ७२ वर्ष रहे। उन्होंने तीस वर्ष गृहस्थाश्रम में विताये और शेष साधु-अवस्था में। साधु अवस्था में भी बारह वर्ष और तेरह पक्ष तो छद्मस्थ दशा में रहे और फिर केवली होकर रहे। उनके चौदह हजार साधु-शिष्यों का परिवार था। भगवान् का जब निर्वाण हुआ तो ग्यारह गणधरों में से नौ का पहले ही निर्वाण हो चुका था। निर्वाण के समय दो ही गणधर शेष थे। उनमें एक थे गौतम स्वामी, जिन्हें भगवान् के मोक्ष चले जाने के तत्काल पश्चात् ही केवलज्ञान हो गया था। गौतम स्वामी के मुक्त होने पर अकेले सुधर्मा स्वामी गणधर रह गये। उन्हे चतुर्विध संघ ने मिल कर भगवान् महावीर की गादी पर आचार्य पद देकर विठलाया। सब ने घोषणा कर दी कि आज से सारा श्रीसंघ श्री सुधर्मा स्वामी की आज्ञा में रहे। कहा है—

चवदाजी पूर्व धार कहिए, ज्ञान चार वखाणिए।
जिन नहीं पर जिन सरीखा, ऐसा सुधर्मास्वामी जानिए ॥

सुधर्मा स्वामी पूर्ण जिन न होने पर भी जिन सरीखे थे-महावीर तो नहीं पर महावीर के समान थे। वे चार ज्ञानों से विभूषित थे। उन्हे चौदह पूर्वों का पूर्ण ज्ञान था। वे श्रुतकेवली थे, अवधिज्ञान केवली भी थे और मनःपर्यायज्ञान केवली भी थे। वे भी शिष्यों के साथ ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि क्षेत्रों में विचरण करते थे और भगवान् महावीर के उपदेश को जगत् में उद्घोषणा करते थे।

सुधर्मा स्वामी के सबसे बड़े शिष्य जम्बू कुमार थे। इन्होंने भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद सुधर्मा स्वामी से दीक्षा अंगीकार की थी। यह भी अत्यन्त पुण्यवान् महापुरुष थे। पाँच-सौ सत्ताईस जनों के परिवार के साथ इनकी दीक्षा हुई थी। भगवान् महावीर के बाद इतने परिवार और इतने समारोह के साथ इन्हीं का दीक्षा महोत्सव हुआ था। जम्बू स्वामी बड़े ही गुरुभक्त, विनीत और तपस्वी थे। उनके अन्तःकरण में गुरु के प्रति अनन्य भक्ति थी।

हृदय में भक्तिभाव होना भी महान् पुण्य की निशानी है। जो पुण्यशाली है, वही भक्ति कर सकता है। अन्यथा भक्तिभाव का उदय नहीं होता। नये-नये मिले तब तो पुण्यवान्, भाग्यवान् और गुणवान् दिखाई दिये, मगर थोड़े दिन बीते या न बीते कि सामना करने लगे, आज्ञा का उल्लंघन करके फिरने लगे और मन चाहे काम करने लगे। एक सरीखी भक्ति कायम रहना बहुत कठिन है। और यह भी सच है कि भक्ति के बिना मुक्ति नहीं मिलती। विनय धर्म का मूल है और विनय के अभाव में मोक्ष प्राप्त होना सभव नहीं है।

हाँ, तो जम्बू स्वामी अतीव विनम्र और गुरुभक्त थे। उन्होंने सेवा-शुश्रूषा, परिचर्या और आज्ञाराधना के द्वारा गुरु को ऐसा प्रसन्न एवं सन्तुष्ट किया था कि उसका वर्णन करना भी कठिन है।

आप जानते हैं कि जब चेला भक्त होता है तो गुरु भी उस पर प्रसन्न रहते हैं। ऐसे चेले को गुरु का शुभाशीर्वाद प्राप्त होता है और उसके लिए वे जो कुछ भी कह देते हैं, वह फलीभूत होता है।

कोई कहते हैं—महाराज, यह मंत्र सिखला दो या ऐसा भजन बना दो। मगर नहीं, गुरु ने, सेवा से प्रसन्न होकर जो शब्द कह दिये, वही उसके लिए मंत्र बन जाते हैं। गुरु की कृपा हो जाने पर क्या कमी रह जाती है! अतएव शिष्य का सर्व प्रथम कर्त्तव्य गुरु को प्रसन्न करना है। जो अपने अवांछनीय कृत्यों से गुरु को अप्रसन्न करता है, वह अपने जीवन को अधन्य बनाता है। इससे क्या होता है?

आयरियपाया पुण अप्पसन्ना,
अबोहि-आसायण नत्थि मुक्खो।
तम्हा अणाबाहसुहाभिकंखी,
गुरुप्पसायाभिमुहो रमिज्जा॥

—दशवैकालिक. अ० २

आचार्य महाराज प्रतिकूल व्यवहार के कारण यदि अप्रसन्न हो जाते है और शिष्य उनकी आसातना करता है तो वह सम्यक्त्व से भी च्युत हो जाता है और मोक्ष नहीं पा सकता। मूलं नास्ति कुतः शाखा? अर्थात् जड़ के बिना डालियाँ कहाँ? इस कहावत के अनुसार सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाने वाला मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है? उसे तो जन्म-मरण के चक्कर में ही पड़ना होगा। अतएव

जो अव्याबाध सुख का अभिलाषी है, उसका यही कर्त्तव्य है कि वह गुरु को अपने सदाचार, सद्व्यवहार, भक्ति, श्रद्धा और विनम्रता आदि सद्गुणों से प्रसन्न करे। गुरु का प्रसाद पाने का ही प्रयत्न करे। अन्यत्र भी कहा है।

विनयवंत विगड़े नहीं, ऊंडो दे उपयोग ।
तुरत लगे अविनीत को, मिथ्यात्व रूपी रोग ॥

विनयवान् पुरुष कभी नहीं बिगड़ता है। गुरु कदाचित् ऊँचा-नीचा शब्द कह दें तो विनीत शिष्य गहरा उपयोग लगा कर यही सोचता है कि ये तो मेरी ही भलाई के लिए कह रहे हैं। अगर मेरा कल्याण न चाहते तो क्यों मुझे ऐसा कह कर अपने समभाव मे विघ्न डालते ? जो अपने समभाव को जोखिम में डाल करके भी मेरा कल्याण चाहते है उन गुरु की मुझ पर कितनी अधिक कृपा है ? मेरे अयोग्य व्यवहार से गुरुजी को मानसिक अशान्ति हुई, यह मेरे लिए लज्जा की बात है !

इसके विपरीत यदि शिष्य अयोग्य होता है और गुरु के शब्दों की अवहेलना करता है तो उसे मिथ्यात्व रूपी रोग लग जाता है।

मिथ्यात्व-रोग अनादि काल से जीवों को सता रहा है। यह रोग बड़ा भीषण है। इसके प्रभाव से अनन्त-अनन्त जन्म-मरण करने पड़ते है। मिथ्यात्व के बिना अनन्त जन्म-मरण का चक्र नहीं चलता। मिथ्यात्व और साधुत्व का तनिक भी मेल नहीं है। मिथ्यात्व का हमला होते ही साधुत्व नष्ट हो जाता है। अगर किसी ने प्रायश्चित्त करके शुद्धि कर ली तो ठीक, अन्यथा वह काली धार डूब जाता है।

कपड़ा कहीं से थोड़ा-सा फट जाय और उसी समय सांध लिया जाय तो अधिक फटने नहीं पाता। अगर लापरवाही रक्खो तो वह फटता ही चला जाता है और पहनने के काम का नहीं रहता। यही हाल अविनीत शिष्य का होता है। अतएव विनयधर्म को अंगीकार करके अविनय से दूर होना चाहिए। इसी से शास्त्रकार कहते है कि जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं है, ऐसा सुख चाहता है तो गुरु को प्रसन्न कर और हर वक्त हाथ जोड़ कर उनके सामने खडा रह। जैसे सपूत बेटा बाप की भक्ति में और भली बहू सासू की भक्ति मे उद्यत रहती है, उसी प्रकार चेले को गुरु की भक्ति में तत्पर रहना चाहिए। इससे दोनो की आत्मा को शान्ति लाभ होता है। गुरु को समझना चाहिए कि चेला मेरे संयम में सहायक है, आधारभूत है, साता पहुँचाने वाला है, और चेले को समझना चाहिए कि गुरु महाराज मुझे अज्ञान के अधकार में से निकाल कर लोकोत्तर प्रकाश देने वाले है। मोक्ष का मार्ग दिखलाने वाले हैं। इस प्रकार विचार कर व्यवहार करने से दोनों का ही कल्याण होता है।

गुरु महाराज निगाह से निगाह मिलाते है तो मानों साक्षात् त्रिलोकी के दर्शन करा देते हैं। जौहरी जब किसी हीरे को गहरी निगाह से देख कर दूसरे की तरफ देखते हैं तो उसे भी लाखों की कीमत के हीरे का ज्ञान हो जाता है। ऐसे ही गुरु निगाह से निगाह मिलावें तो शिष्य को केवलज्ञान तक हो जाता है। मगर होना चाहिए गुरु महाराज के प्रति अनन्य प्रेम, श्रद्धा और भक्ति!

गुरु महाराज प्रसन्न होने पर ज्ञान, ध्यान और तप की अलौकिक विभूति प्रदान करते हैं। ऐसी खर्ची बँधा देते है कि शिष्य को फिर कभी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। जम्बू स्वामी अपने गुरु क

प्रति प्रगाढ़ भक्ति भावना रखते थे तो उन्हे सहज ही आचारांग आदि शास्त्रों का ज्ञान श्रवण करने का अवसर मिला सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी को सुना रहे हैं:—

'दिट्ठं सुयं मयं विन्नायं जमेयं परिकहिज्जइ ।

जम्बू स्वामी ने श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया-'भंते! आप जो फर्मा रहे हैं सो नूतन बात है, कोई अपूर्व तत्त्व है अथवा पूर्वानुभूत है! आप मुझे जो ज्ञान सिखा रहे हैं सो क्या आपने भी भगवान महावीर से यही सीखा था!

इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मा स्वामी कहते हैं—हे जम्बू! मैं जो कुछ भी कहता हूँ, वह अपूर्व-नूतन तत्त्व नहीं है। उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है। यह सब तत्त्व सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् महावीर ने केवलज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष देखा है और मैं ने स्वयं अपने कानों से उनके प्रवचन का श्रवण किया है। देवगण भगवान् के समवसरण की अद्भुत रचना करते थे। विशाल धर्मसभा जुड़ती थी और उसमें देवता भी उपस्थित होते थे। उस समय की छटा देखते ही बनती थी। उसी अनूठी छटा में मै ने भगवान का प्रवचन सुना है। जो सुना है वही सुना रहा हूँ। उस पर मैंने स्वयं मनन किया है और मनन करने के पश्चात हृदय में रमाने का प्रयत्न किया है। विशेष रूप से जाना है। हे जंबू! जब मैं साधु नहीं बना था, तब मै यज्ञ आदि क्रियाएँ किया करता था। चारो वेद मेरे कठस्थ थे। जब भगवान् मिले, तब मुझे इस अपूर्व ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस प्रकार जो देखा है, सुना है, मनन किया है और विशेष रूप से जाना है, वही मैं ने तुम्हे कहा।

जम्बू स्वामी पूछे सिर नामी,
आप जाणो हो कैसे थे स्वामी।
जां को चरित सुणाओ लौ लागी,
म्हारा शासनपति वड़भागी ॥
जासे मिलन की इच्छा जागी ॥१॥

भाइयो ! यह भजन देवीलालजी महाराज का बनाया है। उनके मुख से कैसे वचन निकलते थे ! किस सुन्दर शैली से वे वस्तु के स्वरूप को समझाते थे ! सुनाने में उन्हें अपूर्व आनन्द का अनुभव होता था। जिनमार्ग के प्रति उनके रोम-रोम में गहरी आस्था भरी थी। जब वे महावीर की गुणगाथा गाते तो मस्त हो जाते थे। वे सब बातें अवर्णनीय है। महाराज कहते है। भगवान महावीर स्वामी कैसे थे ? मुझे उनका परमपावन चरित सुनने की वड़ी लौ लगी है। श्रीसुधर्मा स्वामी भी कहते हैं।—

कहं च नाणं कह दंसणं से,
सीलं कहं नायसुअस्स आसी।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं,
अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥

—सूयगडांगसूत्र, वीरत्थुइ।

जम्बू स्वामी ने श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया-भगवान ज्ञातसुत महावीर का ज्ञान कैसा था ? उनका दर्शन कैसा था ? और उनका आचरण कैसा था ? स्वयं ज्ञातपुत्र कैसे थे ? भगवान ! आप उनकी सेवा में रहे हैं और उनके प्रधान शिष्य होकर रहे हैं, अतएव आपको सब बात यथार्थ ज्ञात है अतएव कृपा करके हमें बतलाइए।

तब सुधर्मा स्वामी ने कहा—आयुष्मन! मैंने भगवान के वचन कानों से सुने है, उन पर विचार किया है और खूब खोज-खोज कर पूछा है। मैं सारी बातें तुम्हे सुनाता हूँ!

कहिए, सुधर्मा स्वामी ने गुरु के सान्निध्य से कितना लाभ कमाया? वास्तव में चेला होना उसी का सार्थक हैं जो गुरु को भी प्रसन्न रक्खे और आप भी प्रसन्न रहे और साथ ही गुरु के ज्ञान-वैभव को भी प्राप्त कर ले।

भाइयो! मट्ठधर गुरु और चेले का उदाहरण स्मरण आ गया।

एक छोटी-सी रियासत में मजे का शहर था। शहर के बाहर एक मठ था जिसमें एक गुरू अपने शिष्यपरिवार के साथ रहते थे। उनके कई चेले पढ़-लिख कर होशियार हो गये तो गुरु से अलग होकर अपना अलग प्रचार करने लगे। केवल एक अन-पढ़ चेला ही गुरु के पास रह गया। वह रात-दिन गुरु के पास रहता और कहे अनुसार सेवा करता था। वह गुरु का अनन्य भक्त था। कैसी भी कठिन से कठिन सेवा का अवसर आयो, फिर भी उसने कभी मुँह नहीं मोड़ा। सच्चा भक्त सरल और कठिन कार्य का विचार नहीं करता। हनुमानजी को देखो। वह राम के परमभक्त थे। अवसर आया तो अकेले ही लंका चले गये और सीता को खोज कर आये। सीताजी भी रामचन्द्र की कितनी भक्त थीं। जब हनुमानजी सीता का पता लगा कर वापिस लौटे तो राम ने सीता की कुशल पूछी। इस संबंध में कहा है—

पूछत है हनु को रघुवीर,
कहाँ सुख है तिय के तनु मांही?

हे प्रभु लंक वसे निकलंक,
रावण के तरु की परछांही ।
जीवित है ? कही वाकी जीवन,
क्यों न मुई हम से विछुराहीं ?
प्राण वसे पद-पंकज में,
यम आवत है पर पावत नांहीं ॥

राम ने प्रश्न किया—सीता जीवित है या मर गई ?

हनुमान—वह लंका में है, पर अकलंक है. अपने धर्म पर दृढ़ है। रावण ने उन्हे अशोकवाटिका में रख छोड़ा है। वह एक वृक्ष के नीचे वैठी थी। हरण के अनन्तर उन्होंने अन्न-पानी भी ग्रहण नहीं किया। मैंने जाकर इक्कीस दिन बाद उन्हे भोजन कराया है। जब मैंने आपका हाल सुनाया तो उनके जी में जी आया।

रामचन्द्र—मगर सीता अब तक जीवित कैसे रह गई ? जिसका जिसके प्रति गहरा और पूरा प्रेम होता है, वह उसके वियोग में जीवित नहीं रहता। मेरे वियोग में सोता के प्राण-पखेरू क्यों नहीं उड़ गये ?

अखबार में एक समाचार पढ़ा था। किसी स्त्री का पति अत्यन्त बीमार पड़ गया। स्त्री ने तन-मन से खूब सेवा की, मगर वह सार्थक न हो सकी। पति का देहान्त हो गया। उस स्त्री ने स्नान करके, अच्छे वस्त्र और आभूषण धारण करके पति की लाश पर दोनों हाथ रक्खे और कहा- मैं भी आऊँ।' बस, इतना कहना था कि उस स्त्री के भी प्राण निकल गये।

तो रामचन्द्र ने पूछा—सीता पति के विरह में जीवित कैसे रह सकी ? हनुमानजी ने इस प्रश्न का बड़ा ही सुन्दर और भावपूर्ण उत्तर दिया। वह बोले-महाराज, वह तो कभी की मर गई होती, मगर उनके प्राण तो आपके चरणों में उलझे हैं। वह उनके पास नहीं है। यमराज आये और सीता के प्राण खोजने लगे पर वे वहाँ थे ही कहाँ जो उन्हें मिलते ! इसी कारण वे प्राणहरण न कर सके और सीताजी जीवित बच गईं।

कवि की यह उक्ति बड़ी मनोरम है। तो पतिव्रता स्त्री की पति के प्रति जैसी भक्ति होती है, वैसी ही चेले की गुरु के प्रति होनी चाहिए।

वह अनपढ़ चेला ऐसी ही भक्ति कर रहा था। एक बार गुरु के शरीर में बीमारी का प्रादुर्भाव हो गया और मरण का समय सन्निकट दिखाई देने लगा। चेले को बहुत दुःख हुआ और वह रोने लगा कि अब कौन मेरा पथप्रदर्शक होगा ? कौन मुझे पूछेगा ? यहाँ का राजा दो रुपया रोज देता है और जितनी मूर्तियाँ आती हैं, सबके योग्य खाने का सामान मिल जाता है। आप हैं तो लड्डू-मालपुवा भी मिल जाता है। आपके चले जाने पर मुझे कौन पूछेगा ? जो पढ़े-लिखे थे, वे तो पहले ही चले गये और सुख से प्रचार करने लगे।

गुरु ने कहा—चेला, तूने मेरी बहुत भक्ति की है। जरा भी त्रुटि नहीं होने दी। मैं तुझसे बहुत सन्तुष्ट हूँ। तू चिन्ता न कर। सेवा का फल अवश्य मिलेगा।

उस दिन राजा, दरबारी और कामदार भी आये हुए थे। गुरु ने उनसे कहा-राजन् ! मेरी गद्दी पर इसे चेले को बिठला देना।

चेले ने गुरु से कहा-महाराज, मैं अपढ़ हूँ।

गुरु-मेरी गद्दी का अधिकारी तू ही है।

मरण का समय सन्निकट आया तो गुरु ने कहा-बच्चा, हरड़, बहेड़े और आँवले का चूर्ण बना कर रख लेना और किसी भी बीमारी में दे देना। जो माँगे उसी को एक पुड़िया दे देना, यह याद रखना।

इतना कह कर गुरुजी राम-शरण हो गये। चेला गादी पर बैठ गया।

भाइयो! जानते हो कि चमत्कार को नमस्कार होता है। गुरुजी मरे तो लोगों के दिलों मे वह भक्ति नहीं रह गई। राजा का आना-जाना भी बंद हो गया। दो के बदले एक ही रुपया रोज मिलने लगा। थोड़े दिनों बाद मठ भी टूट-फूट गया। जब आपत्ति आती है तो अनेक रूप धारण करके आती है। चेले को सब तरफ से परेशानी होने लगी। दिनोंदिन ढंग बिगड़ता जाने लगा।

किसी प्रकार तीन--चार साल निकल गये। अब शरीर पर चादर भी न रही। फिर भी चेला अपने गुरु के नाम पर वहीं जमा रहा। जो दवा माँगता है, उसे पुड़िया दे देता है।

कुछ समय बाद शत्रु राजा वहाँ के राजा पर चढ़ आया। शहर में कोट और दरवाजे सब थे। राजा ने भी अपनी फौज तैयार की। मगर शत्रु की जबर्दस्त फौज देख कर इसका चित्त घबराने लगा। उसने सोचा--मेरे पास इतनी फौज नहीं है। शत्रु मेरा राज्य छीन लेगा, मुझे कैद कर लेगा और अपना गुलाम बना लेगा। यह सोच कर वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। उसी

समय उसे अचानक गुरुजी की याद आ गई--जब तक गुरुजी रहे, तब तक शान्ति रही। उनकी गादी पर चेले हैं, उनसे भी सलाह लेना चाहिए। राजा मंत्री आदि के साथ चेलाजी के पास पहुँचे। कहा--राज्य पर विपदा आई है इस विकट संकट के समय क्या करना चाहिए? चेलाजी ने कहा--गुरु की दया से एक नुस्खा बतलाता हूँ। एक--एक बोरी हरड़, बहेड़े और आँवले की मँगवा लो। तीनों को मिला कर एक कर लो और पिसवा डालो। इसके बाद पूर्व और पश्चिम का फाटक खुला रख कर शेष फाटक बंद कर दो। सब सिपाहियों को और शहर के लोगों को गर्म पानी के साथ एक-एक पुड़िया खिला दो। जब जंगल जाने की हाजत हो तो बड़े सवेरे ५०० सिपाहियों की एक टोली बाहर भेजो और दूसरे दरवाजे से आने को कहो। तत्पश्चात् उनको वर्दी दूसरों को पहना कर फिर भेज दो। इस विधि से मुझे अवश्य सफलता मिलने की आशा है।

राजा ने इसी विधि का आश्रय लिया। सब को जंगल जाने की हाजत हुई। कोई दस बार और कोई पन्द्रह बार गया। इस प्रकार आने-जाने वालों का तांता लगा रहने से शत्रु राजा ने विचार किया-इसके पास न जाने कितनी सेना है! इतना दिन चढ़ आने पर भी अभी सिपाही जंगल से निवृत्त नहीं हो पाये हैं। लगातार तीन दिन तक यही क्रम चलता रहा। दुश्मन राजा का साहस भंग हो गया। उसने सोचा—यहाँ दाल गलना कठिन है! अपनी फौज लेकर वह वापिस चला गया।

राजा यह देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। किसी का बाल भी बांका न हुआ और दुश्मन आप ही आप भाग गया। राजा ने सोचा-गुरु जबर्दस्त थे तो उनकी गद्दी सँभालने वाला चेला भी कम नहीं है।

राजा, मंत्री, दरबारी और कामदार आदि को साथ लेकर चेलाजी के पास गया और नमस्कार कर कहने लगा धन्य है गुरुदेव ! आपके प्रसाद को ! सारा संकट छूमन्तर हो गया ! यह आपकी ही कृपा का फल है !

अब उन्हें चार रुपया प्रतिदिन मिलने लगे। मठ भी नया बन गया। चादर भी नई आ गई।

चेला सोचने लगा-जाते-जाते गुरुजी एक ही वाक्य दे गये, लेकिन उसी से कल्याण हो गया। कहा भी है—

एक वचन जो सद्गुरु केरो,
जो वैसे दिल मांय रे प्राणी।
नीच गति मांहि ते नहीं जावे,
भाख गया जिनराय रे प्राणी।
साधूजी ने वंदना नित-नित कीजे ॥

कहो भाइयो ! आपके अन्तस में भी विश्वास है या नहीं ? आस्था है या नहीं ? जो एक वचन भी दिल में रख लेगा तो नीची गति में नहीं जायगा और देव-विमान मिल जायगा। इस जिनमार्ग में कैसे-कैसे मुनिराज हैं ?

एक एक मुनिवर रसनात्यागी,
एक एक ज्ञानभंडार रे प्राणी।
एक एक मुनि वेयच्चिया विरागी,
जांरा गुणारो नहिं पार रे प्राणी ॥

किसी मुनिराज ने दूध का, किसी ने दही का, किसी ने घी का, किसी ने नमक, गुड़, तेल या शक्कर का त्याग किया है। और वह अपनी रसना को जीतने के लिए त्यागा है क्रोध से नहीं। क्रोध स त्यागे तो वह सुत्याग नहीं, कुत्याग है। पूज्य हुकमीचंदजी महाराज की बात है। एक साधु ने उनके पास जाकर कहा-मुझे जीवन भर के लिए दूध का त्याग करा दीजिए। मगर पूज्यजी ने दो-तीन वार जाने पर भी त्याग नहीं कराया। जब कुछ लोगों ने सिफारिश करते हुए कहा कि-यह संत अपनी रसना को वशीभूत करना चाहते हैं तो त्याग कराने मे क्या हानि है?

तब पूज्यश्री बोले—ऐसे त्याग में क्या रक्खा है? दूसरे साधु दूध पीएँगे तो यह उनकी निन्दा करेगा। असली त्याग तो लोलुपता का होना चाहिए। वैराग्य की लगन चाहिए। पर निन्दा के लिए या अपनी उत्कृष्टता दिखलाने के लिए जो त्याग किया जाता है, वह प्रशस्त नहीं। हमारा साधुपन निन्दा के लिए नहीं होना चाहिए। जो परनिन्दक है उसे साधु नहीं समझना चाहिए। साधु को असाधु बताने वाला मिथ्यादृष्टि होता है।

तो पूज्यश्री का विचार कितना गंभीर था! हमारा संयम आत्मा को तारने के लिए है, दूसरों को हल्का समझकर निन्दा करने के लिए नहीं। जो अपने को उच्चकोटि का त्यागी मान कर दूसरों की निन्दा करता है, समझना चाहिए कि उसने संयम का वास्तविक उद्देश्य ही नहीं समझा है।

हाँ, तो कोई-कोई मुनिराज स्वादेन्द्रिय को जीतने वाले हैं और अपने त्याग के लिए तनिक भी अहंकार नहीं करते। कोई-कोई मुनिराज ज्ञान के भंडार हैं। उन्होंने नाना शास्त्रों का अध्ययन किया है, जिनागमो के मर्म को उपलब्ध किया है और वे जगत् को

ज्ञान का अपूर्व प्रकाश देते हैं। वे स्वाध्याय में निरन्तर निमग्न रहते हैं। इस प्रकार स्वयं ज्ञानरुचि होते हुए भी क्रियारुचि मुनियों को तिरस्कार की भावना से नहीं देखते। कोई-कोई मुनि दूसरे मुनियों को आहार आदि द्वारा साता उपजाते हैं, काम करते हैं और जरा भी ऐहसान नहीं जतलाते कि हम यह करते हैं या वह करते हैं।

तात्पर्य यह है कि मुनिराजों की साधना--रुचि भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। मगर कोई भी मुनि अपने से भिन्न रुचि वाले को निम्न कोटि का नहीं समझता और उनका अपमान नहीं करता। ऐसे त्यागी- वैरागी मुनियों का एक भी वचन याद रह जाय तो जीव अधोगति में जन्म लेने से तो बच ही जाता है। कभी -कभी तो एक वचन मात्र का सुनना केवलज्ञान का कारण बन जाता है।

तो जम्बू स्वामी जैसे शिष्य भी धन्य हैं और सुधर्मा स्वामी जैसे गुरु भी धन्य हैं। दोनों ने उदार भाव से अपने--अपने महान् कर्त्तव्य का पालन किया और अपनी आत्मा को तारने के साथ जगत् के अनेक जावों को भी तारा।

इसी प्रकार पुण्यवान् पुत्र अपने पिता को प्रसन्न रखता है और पिता का आशीर्वाद प्राप्त करता है। पुत्र पर माता-पिता का कितना उपकार है, यह कहना भा कठिन है। पुत्र को जो भी प्राप्त है, वह सब माता-पिता की ही कृपा का फल है। ऐसा समझ कर पुत्र को अपने माता-पिता की सेवा-भक्ति करनी चाहिए। स्थानांग-सूत्र में माता--पिता के उपकार का बड़े प्रभावशाली शब्दों में वर्णन किया गया है।

जो गुरुजनों के प्रति श्रद्धा--भक्ति रक्खेगा, उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर अजमेर)
११-१०-४७ }



आत्मा का एकत्व

स्तुतिः—

कुन्दावदात चलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारिधार—
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

जब भगवान् समवसरण में विराजमान होते है तो उनके दोनो तरफ दो श्वेत, सुन्दर एवं उज्ज्वल चामरो का युगल होता है। चामर श्वेत होते हैं और भगवान का शरीर स्वर्ण वर्ण का है।

अतएव उस समय की शोभा अद्भुत और दर्शनीय होती है। ऐसा मालूम होता है कि भगवान का शरीर सुमेरु है और उस पर चन्द्रमा के समान स्वच्छ धवल निर्झर की वारिधारा प्रभावित हो रही है।

श्वेत चामरयुगल भी तीर्थंकर भगवान् का प्रातिहार्य है। भगवान् ने प्रकृष्टतम पुण्यरूप जो तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया है, उसी के फल स्वरूप उन्हे इस अतिशय की प्राप्ति होती है। इन अतिशयों से विभूषित भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

श्वेत चामर मानों जगत् को यह शिक्षा देते हैं कि जैसे हम नीचे जाकर ऊपर जाते हैं, उसी प्रकार जो भक्त भगवान् के समक्ष नम्र होगा, भगवान् के चरणों में नमस्कार करेगा, उसे भी उच्च स्थिति प्राप्त होगी। नमस्कार करने वाला ऊँचा चढ़ जायगा, यहाँ तक कि स्वयं नमस्करणीय बन जायगा। शुद्ध भावना से नमस्कार करने वाला स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी होता है। जैसे चामर श्वेत होते हैं—कलुषताहीन होते हैं, उसी प्रकार भगवान् को नमस्कार करने वाला भी निष्कलुष हो जाता है।

कितनी महत्त्वपूर्ण बात है! संसार में जो नमता है, वह ऊँचा दर्जा पाता है। कहा भी है—

पत्थर ठोकर खात है, करडाई के पाण।
देखो रज ऊँची चढ़े, नरमाई के पाण॥

देखो, धूल कितनी मुलायम होती है। इसी कारण वह राजा के भी मस्तक तक पहुंच जाती है। इसके विपरीत, पत्थर कठोर

होने के कारण जूतों की ठोकरें खाता है। इस प्रकार जो अभिमानी है, कठोर है, और अपने आपको ग़रीब समझता है, वह कभी ऊँचा नहीं चढ़ सकता।

जम्बू स्वामी जब भी श्रीसुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते थे, हर बार नमस्कार करके ही प्रश्न किया करते थे। भगवान् पूछने वाले को हर समय हित--उपदेश ही देते थे। श्रीमद् आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के चतुर्थ अध्ययन के तीसरे उद्देशक में भगवान् महावीर स्वामी क्या फर्माते हैं—

'इह आणाकंखी पंडिए, अणिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं।'

जो प्राणी भगवान की आज्ञा या हुक्म मानने वाला है, उनकी आज्ञा को पालन करने की इच्छा रखता है उसे अपनी आत्मा के एकत्व का विचार करके, अर्थात यह समझ कर कि आत्मा अकेला ही अपने कर्मों का फल भोगता है, अकेला ही जन्म--मरण करता है, तपश्चर्या के द्वारा अपने शरीर को कृश करे। इसी प्रकार अपने चित्त के विकारों को दमन करके जीर्ण और निर्मूल करे।

भाइयो! सुन लेना और 'तह त्ति' कर देना आसान है, पर सुन कर धारण करना बहुत कठिन है और आचरण में लाना तो और भी कठिन है। तलवार की धार पर चलना कठिन है, परन्तु भगवदाज्ञा का अखण्ड रूप से पालन करना उससे भी ज्यादा कठिन है। रात--दिन, प्रत्येक समय, भगवान की आज्ञा से विचरना बहुत बारीक बात है। मगर भगवान फर्माते है कि वास्तव में पंडित पुरुष वही है जो दुनिया से अपना राग हटा लेता है।

पंडित का अर्थ है ज्ञानी। ज्ञानी जानता है कि जगत् के आत्मीयता के आधार पर स्थापित किये गये समस्त संबंध मिथ्या है। इस प्रकार जो संबंधों के मिथ्यापन को जान लेता है, वह उनसे अपना अनुराग भी हटा लेता है। वे जानते हैं कि आत्मा को विभ्रम में डालने वाला और जन्म मरण का चक्र चलाने वाला प्रधान कारण मोह ही है। मोह की बदौलत ही विविध प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का आविर्भाव होता है। मोह ने ही अपने जादू के प्रभाव से प्राणी मात्र को मूढ़ बना रक्खा है। अगर मोह का अंत आ जाय तो इस संसार का रूप ही कुछ का कुछ हो जाय।

ज्ञानी पुरुष भलीभाँति जानते हैं कि जैसे मक्खी श्लेष्म मे फॅस जाती है तो उसकी मृत्यु ध्रुव है, इसी प्रकार जो मोह के बंधन में पड़ जाते हैं, वे भी पुनः पुनः जन्म-मरण की यातनाओं के भागी होते हैं ज्ञानी पुरुष आत्मकल्याण के पथ का निश्चय करके मोह का परित्याग करते है और शरीर पर से भी अपना ममत्व हटा लेते हैं। वे सोचते हैं-इस शरीर से क्या ममता करना है! मोह करने से मेरा मतलब सिद्ध नहीं होगा। इस शरीर का पालन-पोषण करने में और नखरे पूरे करने में ही रह जाऊँगा तो आत्मा का कल्याण नहीं हो सकेगा।

ज्ञानी जानते हैं कि आत्मा और शरीर का वास्तव में कोई मेल नहीं है। आत्मा ज्ञानमय है, शरीर जड़ है। आत्मा सुखस्वरूप है और शरीर अचेतन होने के कारण सुख-संवेदन से शून्य है। आत्मा अमूर्त्त-रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित-है और शरीर के संयोग से आत्मा का उपकार नहीं, अपकार ही होता है। आत्मा की दुर्गति का एक मात्र कारण शरीर ही है। शरीर के अभाव में इन्द्रियाँ नहीं होती और मन भी नहीं होगा। इस कारण

कर्मबंध भी नहीं होता और उसके अभाव में दुःखों का जन्म भी नहीं होता।

आत्मा जब शरीर को अपना मान लेती है तो अनर्थों की परम्परा चल पड़ती है। शरीर के निमित्त से दूसरे लोग अपने कहलाने लगते हैं और पर-पदार्थों को अपना समझने की वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार आत्मा ममता के जाल में फँसती है और फिर उसका निकलना कठिन हो जाता है। दुनिया के सारे दुःख ममतामूलक हैं। जिसने किसी भी पदार्थ को अपना नहीं माना है, उसे कोई भी दुःख नहीं। कोई भी पदार्थ नष्ट हो या बना रहे, उसकी बला से! उसे किसी से कोई मतलब नहीं। वह अपनी आत्मा के एकत्व को देखता है और जानता है कि आत्मा अद्वितीय है, एकाकी है और इस विराट सृष्टि में उसका किसी से कोई सरोकार नहीं है। जो वस्तु देखते-देखते पराई हो जाती है, उसे अपनी कैसे कहा जा सकता है? आत्मा जब परलोक से आया था तो साथ में क्या लाया था? जब जायगा तो क्या ले कर जायगा? ऐसी स्थिति में किसी पदार्थ को अपना मानना, उसके लिए परेशान होना, कष्ट पाना, संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद का अनुभव करना अज्ञान है, मूर्खता है।

इस प्रकार एकत्व का अनुभव करने वाले की भावना यही होती है कि—

आप अकेला अवतरे, मरै अकेला होय।
यों कबहूँ या जीव को, साथी सगा न कोय॥

संसार में आत्मा का कोई साथी नहीं है, सगा नहीं है। जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेले को ही परलोक की ओर प्रस्थान करना पड़ता है।

इस एकत्व-भावना का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि मनुष्य स्वार्थी बन जाय। नहीं, एकत्व भावना वाले के अन्तःकरण मे भी दया और करुणा की शीतल और स्वच्छ मन्दाकिनी प्रवाहित होती है। वह परकीय दुःख को अपना ही दुःख समझ कर उसे दूर करने का प्रयास करता है। वह अपने प्रति कठोर होता है, किन्तु दूसरों के लिए उसका हृदय कुसुम से भी कोमल होता है। फिर भी वह तत्त्वदर्शी है, अतएव अवास्तविक संबंध स्थापित नहीं करता। जगत् के उपकार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है फिर भी उसे वह कर्त्तव्य ही मानता है और परोपकार को भी आत्मोपकार का ही एक प्रकार समझता है। उसकी आत्मा मोहजनित मूढ़ता से रहित होती है, अतः उसकी सहानुभूति और करुणा अमर्याद होती है और उसका दायरा संकीर्ण नहीं होता।

ज्ञानी पुरुष अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते। वे शरीर को भाड़े का मकान समझते हैं। किरायेदार विचार करता है कि मैं मकान की सफेदी क्यों कराऊँ? क्यों इसकी मरम्मत कराऊँ? आखिर तो इसे खाली करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने शरीर को भी अपना नहीं समझते क्योंकि एक दिन उसका भी त्याग करना ही पड़ेगा। मकान कुछ दिनों तक तो कायम रहता है, पर यह शरीर तो इतना नाजुक है कि क्षण भर भी इसके ठहरने का विश्वास नहीं किया जा सकता। अभी है और अभी नहीं है। इस प्रकार यह क्षणभंगुर है।

इस प्रकार विचार कर ज्ञानी पुरुष शरीर से आत्मा का काज साधने का उद्योग करते हैं। वे आत्मकल्याण के लिए घोर और कठोर तपश्चर्या करते हैं और इस कारण उनका शरीर कृश हो जाता

है। फिर भी वे शरीर की परवाह नहीं करते अर्थात् शरीर के पोषण के लिए आत्महित में बाधा नहीं पड़ने देते। उनकी दृष्टि में पहले आत्मकल्याण और पीछे शरीर है।

शरीर हाड़ों का ढांचा है। इसके चारों तरफ नसें है और बीच में खड्डे है, जिसमें मांस के लोथड़े लगे है। लोहू का संचार अविराम गति से होता रहता है और इसी कारण यह टिका हुआ है, अगर मांस और रुधिर आदि उघाड़े रहते तो यह शरीर बड़ा भद्दा और घृणास्पद दिखाई देता, किन्तु गनीमत है कि इसके ऊपर चमड़े की चादर मढ़ी हुई है। कदाचित् ऐसा न होता तो चीलों, कौवों और गिद्धों से इसे बचाना कठिन हो जाता। कभी एड़ी रगड़ते-रगड़ते या अन्य किसी कारण से खून निकल आता है तो मक्खियाँ भिनभिनाने लगती है। लोग कहते हैं—इस पर कपड़ा ढँक दो। स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को देख कर प्रसन्न होते हैं। मगर वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इसमें राजी होने जैसी चीज ही क्या है? ऊपरी चमड़ी ही तो है! यह मकान की तरह प्लास्टर किया हुआ है इसी से कुछ ठीक दिखाई देता है। जरा भीतर का विचार करो तो इसकी असलियत जान पड़े! भीतर से यह अत्यन्त दुर्गन्धित पदार्थों से भरा हुआ है। एक ओर से मल और दूसरी ओर से मूत्र झरता है। मुँह में से कफ, आँखों में से गीड, नाक में से रेंट और कानों में से मैल निकलता है। यह है शरीर की असलियत! यह तो आबूजी का पहाड़ झरता ही रहता है!

इसमें से निकलने वाला पसीना भी बदबू देता है। उठ-उठ कर थूके तो लोग कहते हैं–जरा दूर जाओ। अच्छी से अच्छी चीज भी शरीर के सम्पर्क से घिनौनी बन जाती है। बादाम की चक्की बनाई, उस पर पिश्ते की कतली डालो और उस पर सोने-चांदी के

वर्क लगाये। मगर पेट में जाते ही वह क्या बन जाती है? दस मिनिट बाद निकालो और देखो तो देखने में भी घृणा हो जाय! ऐसा बुरा यह शरीर है कि अच्छी से अच्छी चीज़ को भी बुरी बना देता है। पेट के भीतर जाते ही कहाँ चली जाती है वह कस्तूरी-केशर की खुशबू!

एक बार किसी महात्मा ने अपने भगत से कहा-बुरी से बुरी वस्तु मेरे पास ले आओ।

भगत गया और सोचने लगा-कौन-सी वस्तु सबसे बुरी है? खोजते-खोजते उसे किसी मनुष्य का मैला मिला। उसने सोचा-इससे बुरी और क्या वस्तु हो सकती है! वह एक ठिकरी पर रख कर गुरु के पास लाया और कहने लगा-यह बुरी से बुरी चीज ले आया हूँ।

महात्मा बोले-यदि तू इसे बुरी से बुरी चीज कहता है तो पहले यह क्या थी? गुलाबजामुन, कलाकन्द, मोतीचूर या बादाम-पिश्ते की चक्की?

भगत—जी हाँ। यह पहले इसी रूप में थी।

महात्मा—तो फिर क्या हुआ? किसकी संगति से इसका रूप बदल गया?

भगत—पेट की संगति से।

महात्मा—तो जिसकी संगति से बढ़िया वस्तु भी बुरी हो जाती है, वह बुरा अथवा यह वस्तु बुरी है? फिर उसी को क्यों नहीं लाया?

ऐसा है यह मनुष्य का शरीर! यह किसी काम भी तो नहीं आता। जब आत्मा इसे छोड़ कर चली जाती है तो यह

बिल्कुल बेकार हो जाता है। इसका कोई भी भाग किसी भी उपयोग में नहीं आता। बताओ, मनुष्य, के शरीर की कौन-सी चीज काम आती है? फिर भी मूढ़ मानव अपने शरीर को देख-देख कर अकड़ता है, इतराता है और घमंड करता है! अरे मनुष्य! तू क़्या चीज़ है? क़्या है तेरे शरीर में?

मनुष्य-शरीर की अपेक्षा तो कहीं पशुओ का शरीर ही अच्छा है जो कुछ न कुछ काम तो आता है! कहा भी है:—

पशु-चर्म की बने पन्हैया, नौबत और नगारो।
यह नर-तन है कौन काम का प्रभु भज उतरे पारो॥
जोबन-धन पावनो दिन चारो।
याको गर्व करे सो गँवारो ॥टेर॥

यह यौवन रूपो धन दो--चार दिन का मेहमान है। इस पर क्या घमंड करता है! जानवरों की खाल की तो जूतियाँ बनती हैं, नौबत और नगाड़े मढ़े जाते हैं, लेकिन मनुष्य के शरीर का क़्या बनता है! और फिर यह अशुचि का भडार है। असार है।

ज्ञानी जन कहते है—इस असार शरीर से भी कुछ लाभ कमाया जा सकता है और वह यही कि परमात्मा का भजन कर लिया जाय। परमात्मा को भज लिया तो इसका पाना सफल हो गया। अन्यथा यह कुछ भी काम आने वाला नहीं है! क्यों कि कहा है—

हाथीदांत के खिलौना जगत के आवे काम,
वघां को वाघंबर शिव-शंकर चित्त लाएगा।

मृग की खाल सो बिछावत है जोगीराज,
बकरे की खाल कछु पानी भर पिलाएगा।
करेले की खाल में होत है सुगंध त्यार,
वृषभ की खाल कछु अन्न को निपाएगा।
सामर के सटके बांधत हैं सिपाही लोग,
गेंडे की ढाल राजा--राणा मन भाएगा॥

और—

नेकी और बदी दो संग चले मयाराम,
मनुज की खाल कछु काम नहिं आएगा।

देखो भाइयो! हाथी-दांत से तरह-तरह के खिलौने एवं दूसरी वस्तुएँ भी बनती हैं। नाहर की खाल को शिवशंकर बिछाते हैं। मृगछाला योगियों के काम आती है। बकरे के चर्म की मशक बनती है, जिससे बहुत से लोग पानी पीते हैं। ऊँट की खाल में हींग भरी जाती है। भैंस की चमड़ी से चड़स-कोश-बनती है, जिससे हजारों-लाखों मन गेहूँ तैयार होता है। साँभर के चर्म से सिपाहियों के पट्टे तैयार होते हैं और गेंडे की खाल से ढाल बनती है, जिससे बंदूक की गोली भी असर नहीं करती। महाराणा प्रताप वगैरह ऐसी ही ढाल काम में लेते थे। इस प्रकार जानवरों के शरीर का एक-एक हिस्सा किसी न किसी काम में आता है, परन्तु मनुष्य का शरीर क्या काम आता है? महिलाओं की लम्बी-लम्बी चोटियों का और पुरुषों की दाढ़ी-मूंछ का भी क्या उपयोग होता है? कुछ भी तो नहीं। यह तो बस जलाने योग्य ही है। ठीक ही कहा—

हाड़ जरे ज्यों लाकड़ी रे, केस जले ज्यों घास,
कंकुवर्णी देह जले, सगो न आवे पास।
चेतन अब चेतो अवसर पाय ॥ टेर ॥

जब हंस शरीर को त्याग कर चल देता है तो शरीर निर्जीव हो जाता है। उस समय जलाने के अतिरिक्त और कोई उपयोगिता इसकी नहीं रहती। सब सगे, संबंधी लोग दूर खड़े रहते हैं और मनुष्य के हाथ-पैर लकड़ी की भाँति जल जाते हैं। केश चारे की तरह जल जाते हैं। जिस शरीर पर मिजाज था, उसकी ऐसी दशा होती है।

काया का कीना लाड़ दगा देवेगा,
विश्वासघात कर तूहीं चला जाएगा।
तेरी संगत से काया को दुःख होवेगा,
अपने नर भव का लाभ सभी खोएगा।
मदमातो फिरे दुनिया में करे कंइ हाँसी
इस जिंदगानी में दो दिन का तू वासी॥
एक सुन बेईमान अकेले एक था खासी॥१॥

ज्ञानी पुरुष कहते है-हे चेतन! तू बड़ा बेईमान हो गया है। तूने अपना धर्म भी छोड़ दिया। देख, तू यहाँ दो दिन का मेहमान है। जो तू माने तो तुझे कुछ अकल देता हूँ। वह क्या है?

ओ बेवकूफ ओ दीवाने!
तू किस घमंड में भूला है?

दुनिया में नर है इस प्रकार—
जल पर जिस तरह बबूला है।

नादान! तू किस अहंकार में चूर हो रहा है? मनुष्य का शरीर तो पानी के बुलबुले के समान है। एक क्षण में नष्ट हो जाएगा। तू शरीर का लाड़ करता है, संभालकर रखता है, हवा-खोरी के लिए ले जाता है, अच्छे माल खिलाता है, मगर यह तुझे दगा देगा और तू भी विश्वासघात कर इसे छोड़ कर चला जायगा। तेरे आत्मीय जन इसे जला कर भस्म कर देंगे। अतएव इसका लाभ ले ले। समय रहते इससे कुछ फायदा उठा ले। तू घमंड में चूर रह कर अकड़ता है और लोग तेरी हँसी-मस्करी करते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है—

आदमी का जिस्म क्या है जिस पर शैदा है जहाँ,
एक मिट्टी की इमारत, एक मिट्टी का मकां।
खून इसमें गारा है और ईंट इसमें हड्डियाँ,
चंद सांसों पर खड़ा है ये खाली नूरोशां।
मौत की पुरजोर आंधी इससे जब टकरायगी,
तो दम के दम में यह इमारत टूट कर गिर जायगी॥

भाइयो! कैसी खड़ी है यह शरीर रूपी इमारत। यह हाड़ों का ढाँचा है, अस्थिपिंजर है। इसमें कोई जीवट नहीं है। मौत की आँधी के सामने यह इमारत खड़ी नहीं रह सकेगी। अतएव इस शरीर से जो लाभ उठाना हो, उठा लो। यह किसी काम का नहीं है। जानवरों की तो यहाँ तक पूछ है कि वे घास खाते हैं और उनके गोबर के लिए भी लड़ाई होती है। किसी गाय ने किसी के मकान

के सामने गोबर कर दिया तो उसे दूसरा नहीं उठा सकता। उठावे तो लड़ाई हो जाती है। मगर मनुष्य बादाम-पिश्ते की चक्कियाँ खा कर किसी के मकान के सामने टट्टी चला जावे तो उसकी कितनी मिट्टी पलीद होती है! यह क्यों होता है? गाय ने घास खाया था और आदमी ने तो एक नंबर की चीज़ खाई है! फिर इतनी बुरी हालत क्यों हो गई?

जरा विवेक प्राप्त करो। शरीर और आत्मा के भेद का विचार करो। सारी जिंदगी इस अपावन तन के लिए ही नष्ट मत करो। मनुष्य का शरीर अगर निकृष्ट है तो किसी दृष्टि से उत्कृष्ट भी है। धर्म की विशिष्ट साधना इसी शरीर से होती है। परमात्मा का भजन करके मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है। इस कारण इस शरीर की बड़ी महिमा भी है।

यों तो जगत् के सभी पदार्थ धोखा देने वाले हैं, परन्तु शरीर सबसे पहले धोखा देता है, इस विषय को समझने के लिए तीन मित्रों का एक उदाहरण लीजिए:—

एक राजकुमार के तीन मित्र थे। उनमें एक मित्र अठपह-रिया था। वह चौबीसों घंटे कुमार के साथ रहता ही था। राज-कुमार उस पर अत्यन्त प्रीति रखता था। उसे वैसे ही वस्त्र पह-नाता, जैसे स्वयं पहनता था। भोजन साथ करता। साथ ही साथ सैर करने जाता। प्रत्येक क्षण उसे अपने ही साथ रखता और कभी जुदा न होने देता था। मित्र भी राजकुमार की पूरी सेवा करता था।

राजकुमार का दूसरा मित्र चारपहरिया था। सूर्योदय से सूर्यास्त तक वह राजकुमार के साथ-साथ रहता और रात्रि में अपने घर चला जाता। राजकुमार इसे भी उसी प्रकार खिलाता, पिलाता,

पोशाक पहनाता और सैर-सपाटा कराता। परन्तु अष्टपहरिया मित्र की अपेक्षा इस पर कम प्रीति रखता था।

राजकुमार का तीसरा जुहारु मित्र था। जब राजकुमार सैर करने निकलता तो उससे भेंट होती। वह खड़ा होकर राजकुमार को जुहारु कर लेता था। इस पर उसका सब से कम प्रेम था।

एक बार रात्रि में सोते-सोते राजा को नींद खुल गई। सहसा उसके मन मे विचार उठा—आज मैं जीवत हूँ तो राजकुमार को कोई तकलीफ नहीं है। मैं उसे प्राणों की तरह रखता हूँ। मगर जब मैं नहीं रहूँगा तो अवसर पड़ने पर कौन कुमार के काम आएगा? कौन उसकी सहायता करने वाला है? कुमार के तीन मित्र हैं, पर उनमें कौन वफादार है और कौन नहीं, यह तो परीक्षा करने के बाद ही निश्चित हो सकता है। परीक्षा कर लूँ तो हृदय को सन्तोष हो जाय।

इस प्रकार विचार कर राजा फिर सो गया। सूर्योदय हुआ प्रभातकालीन कृत्यों से निवृत्त होकर राज सभा में आया। मंत्री, मुसाहिब आदि मौजूद थे। उसी समय राजकुमार भी राजा को प्रणाम करने आया। लेकिन ज्यों ही कुमार ने प्रणाम किया, राजा ने मुँह फेर लिया। कुमार ने समझा—आज पिता किसी कारण अप्रसन्न हैं। मुझसे कोई बड़ी चूक हुई दीखती है। उसने कहा—'अन्नदाता, अपराध क्षमा कीजिए।'

इतना सुनते ही राजा क्रुद्ध होकर बोला--तू नालायक है, कमीना है, अयोग्य है, तू गद्दी के योग्य नहीं है। मुझे मुँह मत दिखा। चला जा यहाँ से।

कामदार ने कहा--अन्नदाता, कुमार तो पूरी तरह आपकी आज्ञा में हैं। सुशील, विनीत और विवेकवान् हैं। आप क्या फर्मा रहे हैं ?

राजा का कोप और बढ़ गया। उसने कहा--तू भी दरबार से बाहर चला जा। कुमार आज बचने का उपाय कर ले, लेकिन कल शूली पर चढ़ा दिया जायगा। जो इसकी सहायता करेगा, उसे भी शूली पर चढ़ाना पड़ेगा।

कुमार हतबुद्धि और अवाक् रह गया। उसकी समझ में ही नहीं आया कि मामला क्या है ? मेरा क्या अपराध है और वह भी इतना गुरुतर कि शूली पर चढ़ाया जाय ? इस प्रकार सोचता--विचारता वह अपने कमरे में आ गया और रोने लगा। कामदार भी अपने घर जाकर अफसोस करने लगा।

इस घटना से कुमार का अठपहरिया मित्र भी घबराया और सोचने लगा-हर समय खाने, पीने, मौज उड़ाने में राजकुमार के साथ रहा, लेकिन इस समय साथ देना प्राणों को संकट में डालना है। कहावत है--'खाएगा गटका तो सहेगा झटका।' इस प्रकार विचार कर उसने चुपचाप सटक जाने का निश्चय किया। उसने पेट में दर्द होने का बहाना बनाया और राजकुमार के पास से चल दिया।

कुमार के पास अब दूसरा चारपहरिया मित्र रह गया। संध्या तक वह साथ रहा और फिर वह भी चल दिया। अब राज-कुमार अकेला रह गया और सोचने लगा--इस संकट से कौन बचा सकता है !

काफी देर हो गई। कुमार ने देखा, मित्र अभी तक नहीं आया है तो क्या अधिक बीमार हो गया ? उसके घर चल कर विचार करना चाहिए कि आखिर शूली से बचने के लिए क्या मार्ग अपनाया जाय ?

राजकुमार अठपहरिया मित्र के घर पहुँचा। आवाज़ लगाई–'प्रिय मित्र वर ! दरवाजा खोलो।'

मित्र चार मंजिल की हवेली में रहता था। पहले तो कई बार चिल्लाने पर भी कोई उत्तर न मिला। मगर कुमार जब आवाज पर आवाज लगाता ही रहा तो उत्तर देना अनिवार्य हो गया। लेकिन उसने दरवाजा खोले बिना ऊपर से ही कहा–क्यों आये हो ? क्या काम है ?

राजकुमार–मित्र, तुम्हें मालूम है कि मुझे शूली होने वाली है। बचने का कोई उपाय बतलाओ।

मित्र ने कहा–जो तुम्हारी मदद करेगा उसे भी शूली मिलेगी। इस कारण मैं कोई मदद नही कर सकता। महाराज के कोप का भाजन बनना मैं नहीं चाहता। इसलिए तुम जल्दी ही यहाँ से चले जाओ। न जाओगे तो ऊपर से पत्थर फैंक कर सिर फोड़ दूंगा।

अपने प्राणप्रिय मित्र का बदला हुआ रुख देख कर कुमार की आँखें खुल गईं। वह निराश और उदास आगे चला जो ऐसे विकट अवसर पर भी काम न आए वह मित्र ही क्या ?

काम पड्यां जो आवे आड़ो,
वणी सगा से मिलणो गाढ़ो।
काम पड्यां दे जावे टारो,
वणी सगा को मुँडो कारो॥

जो संकट के समय काम आता है, वही सगा है। जो पीठ दिखा देता है, वह काहे को सगा है ?

कुमार सोचता है-मेरा प्राणप्रिय मित्र आज मेरा सिर फोड़ने को तैयार है ! तकदीर ही मेरी फिर गई है। किसे दोष दिया जाय ? बिना किसी अपराध के पिता ही जब प्राण लेने को तैयार हैं तो मित्रों का कहना ही क्या ! फिर भी चोरपहरिया मित्र को भी परख लेना चाहिए। उसी सलाह लेनी चाहिए। मगर उससे अधिक प्रेम तो नहीं है। फिर भी मुलाकात कर लेने में हर्ज ही क्या है ? अंतिम समय मे मिलना ही सही।

राजकुमार ने उसका द्वार खटखटाया। आवाज सुनते ही मित्र नीचे उतर कर आया और बोला-कहिए, क्या आज्ञा है ? राजकुमार ने कहा-मुझे शूली मिलने वाली है और मेरी मदद करने वाले को भी। बचने का कोई रास्ता हो तो बताओ।

मित्र ने कहा-आप मेरे मित्र हैं। इस समय मे आपका कोई उपकार न कर सकूँ तो मै कृतघ्न हूँ। मगर लाचार हूँ। मेरे छोटे-छोटे बच्चे है और मैं शूली पर चढ़ा दिया गया तो इनका पालन-पोषण कोई करने वाला नहीं। हाँ, आप पाँच सौ मोहरें और घोड़ा मुझसे ले जाइए और परदेश चल दीजिए।

राजकुमार-राजा के हाथ लम्बे होते है। वह कहीं से भी पकड़ कर मँगवा सकते है। अतएव भागना वृथा है। अन्य प्रकार से सहायता कर सको तो कहो।

मित्र—और कोई मार्ग मुझे दिखाई नहीं देता।

राजकुमार वहाँ से चला तो उसका यह मित्र चालिस कदम पहुँचाने आया और कुमार की सहायता न करने के कारण अपनी भर्त्सना करने लगा।

कुमार ने अब जुहारुमित्र के पास जाने का निश्चय किया। यद्यपि उस से बहुत साधारण मैत्री थी, फिर भी कुमार उसके पास जा पहुँचा। देखते ही वह कुमार के सामने आया और पूछा—कहिए, कैसे आना हुआ ?

कुमार—महाराज अप्रसन्न हैं और मुझे शूली पर चढ़ाने का आदेश दिया है। मदद करने वाले को भी यही दंड मिलेगा।

मित्र—मगर इसका कारण ? कुछ अपराध किया है ?

कुमार—कुछ भी नहीं।

मित्र—जब आपने कुछ अपराध नहीं किया तो सरकार हर्गिज़ शूली पर नहीं चढ़ाएँगे। आप भीतर आइए और आराम कीजिए।

कुमार—मित्र सोच लो। मेरे कारण तुम्हारी हानि न हो।

मित्र—आप मेरी चिन्ता न कीजिए। घबराइए भी नहीं। निश्चिन्त होकर विश्राम कीजिए। जो होगा, देखा जायगा।

जुहारु मित्र कुमार को चौथे मंजिल पर ले गया। आराम से बिठलाया और अपनी स्त्री से बोला-बढ़िया भोजन बनाओ। राजकुमार को जिमाना है।

भोजन तैयार हुआ और कुमार के सामने लाया गया। उसे देख कर कुमार के नेत्रों से आँसू झरने लगे। सिर पर मंडराती हुई मौत उसे दिखलाई देने लगी।

मित्र ने आश्वासन देते हुए कहा-जब आप निरपराध हैं तो भयभीत होने की आवश्यकता क्या है ? साँच को आँच क्या ? मैं तो जरा भी नहीं डरता। आप निश्चिन्त रहे, पहले मैं शूली पर चढ़ूँगा, तो बाद में आपकी बारी आएगी। आप तो खा-पी कर सो जाओ।

प्रातःकाल होते ही राजा ने कामदार को बुलवा कर कहा-देखो, राजकुमार मुझे प्राणों से प्यारा है। मै जानता हूँ कि वह सुशील है, विनीत है और निर्दोष है। मगर उसके मित्रोंकी कसौटी करने के लिए मैंने यह नाटक रचा है। अब तलाश करो कि राजकुमार कहाँ है ? परन्तु अभी यह रहस्य प्रकट नहीं होना चाहिए।

राजकुमार की महल मे खोज की गई। वहाँ न मिलने पर आठपहरिये मित्र को बुलवाया गया और राजकुमार के बारे में पूछताछ की गई। उसने कहा—मेरे यहाँ आये थे, पर मैंने तो द्वार तक नहीं खोला। द्वार पर खड़े रहे तो पत्थर मारकर सिर फोड़ने का डर बतलाकर भगा दिया। पता नहीं, कहाँ चले गये।

राजा भीतर ही भीतर कुद्ध गया। मगर बोला—शाबास, अच्छा किया। अच्छा, यहीं बैठो।

तत्पश्चात् चारपहरिया मित्र बुलवाया गया। उसने कहा-अन्नदाता, मेरे वहाँ आये थे, पर मैं आपके भय से उनकी सहायता नही कर सका। यह कहकर उसने समस्त वृत्तान्त सही-सही सुना दिया।

राजा ने सोचा-यह उस कृतघ्न से अच्छा है !

अन्त में जुहारु मित्र बुलवाया गया। पचास आदमी उसे लाने गये थे, मगर उसके द्वार पर सशस्त्र सिपाही तैनात देख कर

वे लौट आये ! बोले--अन्नदाता, उसके दरवाजे पर तो हथियारों से लैस सिपाही खड़े हैं।

राजा ने दीवान को आदेश दिया-तोपखाने के साथ फौज लेकर जाओ। (मगर दीवान को धीमे से समझा दिया कि बंदूक मत चलाना।)

फौज ने मकान पर घेरा डाल दिया। दीवान जुहारु मित्र से मिला और कहने लगा--कुमार को हमें सौंप दीजिए।

मित्र ने कहा--जब तक कुमार के साथ न्याय करने का वचन न दिया जायगा, कुमार को सौंप नहीं सकता। प्रत्येक व्यक्ति को न्याय पाने का अधिकार है तो राजकुमार को क्यों नहीं ? हाँ, अगर वह अपराधी सिद्ध हो तो भले दंडित किये जाएँ। किन्तु निरपराध को दंड क्यों दिया जा रहा है ?

दीवान—महाराज का आदेश है। कुमार को सौंपना ही पड़ेगा। न्याय देने का अधिकार महाराज का है।

मित्र—मगर न्याय लेने का अधिकार प्रत्येक प्रजाजन का है। मैं अपने प्राण दे दूंगा, मगर न्याय का वचन लिये बिना कुमार को नहीं सौंपूंगा।

दीवान ने यह समाचार महाराज के पास भेज दिये। महाराज ने आदेश भेज दिया--सब अपराध क्षमा किये गये। कुमार वापिस आ जाएँ।

मित्र ने कुमार से कहा—कुमार, महाराज धोखा नहीं दे सकते। उन्होंने सब अपराध क्षमा कर दिये हैं। अब महल में चलना चाहिए।

कुमार—शूली पर चढ़ा दिया गया तो ?

मित्र—आप सोच क्यों करते हैं ? पहले मैं मरूँगा, तब कहीं आपके ऊपर आँच आएगी। किन्तु महाराज का वायदा मिथ्या नहीं होगा।

सब लोग दरबार में पहुँचे। राजा ने कुमार को आते देख कर, सिंहासन से नीचे उतर कर गले लगाया और अपनी गोद में बिठा लिया। फिर कहा—बेटा, तुझे शूली पर चढ़ा कर मैं कैसे जीवित रह सकता हूँ ? तू न रहेगा तो यह राज्य कौन संभालेगा ? तुझे इस घटना से कष्ट तो अवश्य हुआ, परन्तु तेरे मित्रों की परीक्षा हो गई। अब तुझे ज्ञात हो गया कि समय पर कौन काम आएगा और कौन नहीं ! यह अठपहरिया नीच है, कृतघ्न है, कुत्ते से भी गया--बीता है। इसे शूली पर चढ़ा दिया जाय। चारपहरिया मित्र कितना ही मीठा बोले, परन्तु काम का नहीं। इसे देश से निर्वासित कर दिया जाय। तत्पश्चात् राजा ने कृतज्ञतापूर्ण नेत्रों से जुहारु--मित्र की ओर देख कर कहा--यह तेरा सच्चा मित्र है। समय पर यही काम आएगा। इसे अपने पास रखना और जब मैं न रहूँ तो मेरी जगह इसे समझना।

भाइयो ! यह एक दृष्टान्त है। इसके असली आशय को समझना आवश्यक है। आत्मा को राजकुमार के स्थान पर समझो। अठपहरिया मित्र शरीर है जो सदैव साथ रहता है और जिसका प्रेम के साथ लालन--पालन किया जाता है चारपहरिया मित्र कुटुम्बी जन हैं, जो मृत्यु आने पर दुख प्रकट करते हैं, मगर सहायता कुछ भी नहीं कर सकते। श्मशान तक अधिक से अधिक साथ देते हैं। जुहारु मित्र के समान साधु--मुनि या धर्म को समझना चाहिए।

मृत्यु के समय सबसे पहले यह शरीर ही धोखा देता है। जिसे बड़े यत्न से पाला-पोपा जाता है, वही दुःख का कारण बनता है। इस शरीर से आशा नहीं की जा सकती कि यह अन्त में साथ देगा या सहायता करेगा।

अन्त समय और विपत्ति के अवसर पर साथ देने वाला या तो धर्म है या धर्मदूत मुनिराज हैं। अतएव उन्हीं को सच्चा मित्र और सहायक मानना चाहिए। मृत्यु के समय धर्म के सिवाय और कोई भी साथ नहीं दे सकता है।

इस संसार में सद्गुरु की समानता कोई नहीं कर सकता। जो अज्ञान के घोर अंधकार का निवारण करके आत्मा को प्रकाश की अपूर्व रश्मियाँ प्रदान करते हैं, उनके महदुपकार का बखान कौन कर सकता है? सद्गुरु कैसे होते है—

फूटी जहाज समुद्र बीच डेरा,
सद्गुरु बिना होवे कौन धणी।
मार्ग में मार्ग में लूटे पाँच जणी, मार्ग में॥

संसार सागर में फूटी नौका को पार लगाने वाले सिर्फ सद्-गुरु महाराज हैं। वही समय पर काम आने वाले है। उन्हीं से कल्याण होगा। उनके द्वारा प्रदर्शित धर्म आपकी रक्षा करेगा। वही परलोक में भी साथ जाकर आपको सुख प्रदान करता है। शरीर विश्वास करने योग्य नहीं है। अतएव इसी के पालन-पोषण से मत लगे रहो। इसका सदुपयोग यही है कि इसके द्वारा धर्म की साधना करो।

शरीर को आत्मा से भिन्न समझो और आत्मा के एकत्व को पहचानो। जो आत्मा के एकत्व को समझता है, वही विवेकवान् है, वही पण्डित है और वही सच्चा सन्त या महात्मा है। ऐसा समझ कर जो आत्मा को पहचानेंगे, उन्हें आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर (अजमेर)
१२-१०-४७



क्रोध का परिणाम

स्तुतिः—

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त,-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते हैं तब देवता उनके मस्तक पर तीन छत्र बना देते हैं। वे छत्र एक दूसरे के ऊपर उसी प्रकार स्थित होते हैं, जिस प्रकार तीनों लोक एक दूसरे के ऊपर

स्थित हैं। तीन छत्र मानों यह प्रकट करते हैं कि भगवान् तीर्थंकर तीन लोक के स्वामी हैं। चराचर जगत् के नाथ हैं। पाताल लोक के निवासी भवनपति, मध्यलोक के निवासी राजा आदि तथा ऊर्ध्व-लोकवासी वैमानिक आदि देव तीर्थंकर देव को ही परमेश्वर मानते हैं और पूज्य समझते है।

तीर्थंकर देव के मस्तक पर सुशोभित होने वाले तीन छत्र एकदम श्वेत चन्द्रमा के समान धवलकान्ति वाले होते हैं और सूर्य की किरणों के प्रताप को रोक देते हैं। उनमें लटकने वाली मोतियों की झालरों से उनकी शोभा और भी बढ़ जाती है।

इस प्रकार तीनों लोकों के नाथ भगवान् ऋषभदेव हैं। उनको ही हमारा वार-वार नमस्कार हो।

भगवान् जगत् के जीवों को तीन बातों का मुख्य रूप से उपदेश देते हैं-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का। यही तीन मोक्ष के मार्ग हैं।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की आवश्यकता है, अर्थात् यथार्थ दर्शन--श्रद्धान, रुचि होना चाहिए। देव, गुरु और धर्म के स्वरूप को समझ कर यथार्थ देव गुरु धर्म को ही देव गुरु और धर्म समझना और उन्हीं पर श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन है। जगत् में जो देव के रूप में प्रख्यात् हैं, मगर जिनमें देव के लक्षण नहीं पाये जाते, उन्हें कुदेव समझना चाहिए। प्रश्न हो सकता है कि देव के लक्षण क्या है? संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर यही है कि जो पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी हो, वही सच्चा देव है। जिसमें इन दोनो का अभाव है, उसे देव नहीं समझना चाहिए। फिर भी यदि ऐसा व्यक्ति देव कहलाता है तो उसे कुदेव मानना चाहिए।

कहा जा सकता है कि वीतरागता और ज्ञान-दोनों ही अदृश्य विशेषताएँ हैं। इन्द्रियों से अगोचर हैं। किसी में पूर्ण ज्ञान है या नहीं? अगर नहीं है तो कितना है? इसी प्रकार कौन वीतराग और कौन रागवान् है? दूसरे के विषय में यह निर्णय करना शक्य नहीं है। फिर किस प्रकार कुदेव और सुदेव का भेद किया जाय ?

बात ठीक है। ज्ञान अदृश्य है और वीतरागता भी। फिर भी बाह्य चेष्टाओं से उनका निर्णय हो सकता है। बल्कि होता भी है। किसी की चेष्टाओं और वाणी से हम जान लेते हैं कि यह मनुष्य मूर्ख है अथवा ज्ञानवान् है अथवा विरागी है? देव का निर्णय करने की भी यही कसौटी है?

जिसके वचन प्रत्यक्ष से बाधित नहीं हैं, युक्ति से खंडित नहीं होते, पूर्वापर विरोध से रहित हैं, दयाधर्म के पोषक है और सत्य से प्रतिकूल नहीं हैं, साथ ही दूर वर्त्ती और सूक्ष्म तत्त्वों का यथार्थ-बुद्धिसंगत निरूपण करने वाले है, समझना चाहिए कि उनका ज्ञान यथार्थ और पूर्ण है।

इसी प्रकार जिसकी चेष्टाओं मे राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, भय, आदि विकारों की अस्पष्ट छाया भी न दिखाई देती हो, अतएव जो स्त्री आदि के संसर्ग से दूर हो, अस्त्र-शस्त्र आदि न रखता हो, जो किसी को अपना शत्रु न समझता हो, उसे मारने का प्रयत्न न करता हो, उसे वीतराग समझना चाहिए।

इस प्रकार विवेक करने से सर्वज्ञता और वीतरागता का निश्चय हो सकता है। छद्मस्थ जीव अतीन्द्रिय पदार्थों को जान ही नहीं सकते, यह समझना भ्रमपूर्ण है। वे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, फिर भी अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों से उन्हे जान ही सकते हैं। जो

देवत्व की उक्त कसौटी पर कस कर निश्चित किये हुए वीतराग और सर्वज्ञ भगवान् को ही देव समझता है और स्त्री आदि में आसक्त तथा शस्त्रधारक देवों को कुदेव मानता है, वही सम्यग्दृष्टि हो सकता है।

कौन गुरु यथार्थ और कौन अयथार्थ है, यह निर्णय करना कठिन नहीं है। संक्षेप में, कंचन और कामिनी के त्यागी तपस्वी मुनि ही गुरु है और जो इनसे विपरीत हैं, वे कुगुरु हैं। गुरु को ही गुरु मानना और कुगुरु को गुरु समझ कर वन्दना-नमस्कार आदि न करना सम्यग्दर्शन है।

सच्चे धर्म की कसौटी दया और अनेकान्त दृष्टि है। जो धर्म दया का विधान करता है, और अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व की प्ररूपणा करता है, वही सच्चा धर्म है। इससे विपरीत, जिसमें किसी भी प्रकार से हिंसा का विधान है या दया का विरोध है, उसे धर्म नहीं समझना चाहिए। जो एकान्त के प्रति आग्रहशील है और अपने इष्ट दृष्टिकोण से भिन्न अन्य दृष्टिकोणों को मिथ्या समझता है, वह एकान्त निष्ठ धर्म भी कुधर्म है। सम्यग्दृष्टि वास्तविक देव, गुरु और धर्म को ही मानता है और अवास्तविक को देव, गुरु और धर्म स्वीकार नहीं करता।

कई लोग कहते हैं-अपने लिए तो सभी समान है! इस प्रकार जो सब को समान समझ लेगा, वह पत्नी और माता में भी भेद नहीं करेगा। उसके लिए अमृत और विष भी समान होगा। झूठ और सच भी समान हो जाएँगे। अज्ञानी को पता नहीं कि वह भंग की तरंग में बोल रहा है या होश में? ऐसा कहने वाला भी पेड़े के बदले धूल नहीं खाता और सीरे के बदले गोबर नहीं खाता मगर जब धर्म की बात आती है तो समदर्शी होने को डींग मारता

है ! वास्तव में जो अज्ञान के कारण सच्चे-झूठे में भेद नहीं करता और दोनों को समान समझता है, वह मिथ्यात्वी है।

वास्तव में जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही समझना सम्यग्-दर्शन का लक्षण है। सब को समान समझने वाले केलिए हीरा और कंकर समान हैं। वस्तुतः दुनिया में कोई धर्म वाला नहीं कहता कि सब धर्म समान हैं। झूठ को झूठ और सच को सच ही समझना चाहिए। फिर भी कोई मुख में कौर रखने के बदले कान में रखले तो उसे क्या समझना ?

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अनन्तानुबंधी कषाय की चौकड़ी के दूर होने पर ही होती है। यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ को चौकड़ी कहा गया है। अनन्तानुबंधी का अर्थ है-कभी अन्तर न पड़ना। जो कषाय सदा जीव के साथ ही साथ लगी रहे, वह अनन्तानुबन्धी है। यह कषाय बड़ी जबर्दस्त है। जो क्रोध जीव के साथ लगकर मृत्यु पर्यन्त पिंड न छोड़े, बल्कि परलोक में भी जीव के साथ जाय और वहाँ भी अपना काम करे, वह अनन्तानुबंधी क्रोध है। अनन्तानुबंधी क्रोध के संस्कार सदैव बने रहते हैं। जिससे एक वार तकरार हो गई, उसके विषय में वह यही कहेगा-'उस बेईमान का तो मुँह भी नहीं देखना।'

एक जगह पंचायत में धड़ा पड़ गया। लोगों ने कोशिश की कि धड़ा मिट जाय तो अच्छा। मैंने इसके लिए प्रयत्न किया तो एक सेठ के लड़के ने आकर कहा-'महाराज, मेरे भाईजी (पिता) कह गये है कि धड़ा टूटना नहीं चाहिए।' कहिए, उस सेठने मरते समय क्या वात कही ! उसके अन्तस् में कैसा क्रोध न होगा !

भाइयो ! मैंने उसके संबंध में विचार किया कि इतना बड़ा

प्रतिष्ठित सेठ और ऐसी बात कैसे कह गया ? मगर अनन्तानुबंधी क्रोध की तीव्रता जो ठहरी ! ऐसे लोग मरते-मरते भी दूसरों को सिखा जाते हैं कि इस टेक को मत छोड़ना ! ऐसे आदमी किस गति में जाएँगे ? अनन्तानुबंधी क्रोध नरक में ले जाता है !

पत्थर के दो टुकड़े हो जाएँ तो दोनों मिल कर एक नहीं होते । अलबत्ता सीमेंट से जुड़ते हैं, मगर पहले की भाँति एक रूप नहीं होते । सोने के सौ टुकड़े मिल कर एक रूप हो जाते हैं, मगर पत्थर की प्रकृति ही ऐसी नहीं कि वह सोने की तरह एक रूप हो जाय । इसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोध मिटता नहीं है ।

क्रोध एक अत्यन्त हानिकारक विकार है । क्रोधावेश के समय मनुष्य में एक प्रकार का पागलपन उत्पन्न हो जाता है । उस पागलपन की स्थिति में उचित-अनुचित और हित-अहित का विवेक विलुप्त हो जाता है । मनुष्य पशु से भी हीन हो जाता है । कोई दूसरे के प्राण ले लेता है और कोई आत्मघात करके अपने प्राण दे देता है । पिता अपने सगे पुत्र के प्राणों का ग्राहक बन जाता है और पुत्र अपने पिता के प्राण हरण कर लेता है । भाई भाई की जान ले लेता है । इससे बढ़ कर और क्या अनर्थ हो सकता है ?

क्रोधी स्वयं जलता और दूसरों को भी जलाता है । वह ऐसे-ऐसे जघन्य कृत्य कर डालता है, जिनके लिए उसे जीवन पर्यन्त पछताना पड़ता है । मगर क्रोधावेश में इस प्रकार का होश नहीं रहता । इसीलिए भगवान् महावीर स्वामी ने फर्माया है कि--हे भव्य जीवो ! अगर मोक्ष में जाना है और केवलज्ञान प्राप्त करना है तो तुम्हें क्या करना चाहिए ?'

विगिंच कोहं अविकंपमाणे,
इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए ॥

—आचारांग, ४ अ. ३ उद्देशक

भगवान फर्माते हैं--ऐ प्राणियो ! क्रोध का परित्याग करो। इस बात का विचार करो कि आयु अल्पकालीन है। अतएव धैर्य धारण करके क्रोध का त्याग करोगे तो थोड़ी आयु में भी आत्मा का कल्याण हो सकता है।

क्रोध आने पर सारा शरीर थर--थर काँपने लगता है। जैसे किसी देवस्थान पर भाव आने पर भोपा काँपता है। भैरोंजी आ गये, देवीजी आ गईं शरीर में और फिर वह डोलता है, वैसे ही क्रोध में शरीर काँपने लगता है ! उस समय सारे घर के भयभीत होकर सोचने लगते हैं--हे भगवन् ! आज तो यह हम सब का कचूमर निकाल देगा। क्रोधी को कुछ नहीं सूझता। बंदूक मार दे, छुरा घुसेड़ दे या और कोई भी अनर्थ कर डाले ! कहा है—

कोई क्रोध मत करोजी, क्रोध का भूत तुरत बन जाता है।
शुभ कर्मों का नाश करे, कुकर्म को क्रोध बढ़ाता है ॥

क्रोधी आदमी भूत की तरह बन जाता है। क्रोध शुभ कर्मों का नाशक है और अशुभ कर्मों को संचित करता है। कई छोकरों को क्रोध आता है तो वे स्लेट फोड़ डालते है, किताब फाड़ डालते हैं और कहीं और ज्यादा क्रोध आ गया तो स्लेट किसी के मस्तक में दे मारते हैं !

क्रोधो मूलमनर्थानां, क्रोधः संसारवर्द्धनः।

क्रोध सब अनर्थों की जड़ है। संसार--आवागमन को बढ़ाने वाला है। धर्म रूपी वृक्ष को नष्ट करने के लिए दावानल के समान है।

बहुत वर्षों तक साधु बन कर संयम का पालन किया। तपस्या की और ज्ञान--ध्यान किया। मगर यह सब किये--कराये पर पानी फेर देता है। कितने वर्षों तक कष्ट उठाया और क्रोध ने क्षण भर में सब स्वाहा कर दिया। सेठजी मुनीम पर बहुत प्रसन्न हैं, खूब मानते हैं और पाँच सौ के बदले सात सौ कर देने को सोच रहे हैं, मगर सेठजी को एक दिन गुस्सा आया कि सारी मुनीमी मिट्टी में मिल गई। सेठ का दिल खट्टा हो गया और अब मुनीम किसी काम का नहीं रहा।

किसी के विषय में लोग कहते है–ये बड़े भाग्यवान् हैं और एक बार क्रोध किया कि सारी भाग्यवानी धूल में मिल गई। तब लोग कहने लगे–हम तो अच्छा समझते थे, परन्तु यह तो मिर्चों का कोथला ही झटकने लगे। क्रोध के पिंड हैं। अरे, यह तो बड़े क्रोधी निकले।

बींदणी बड़ी अच्छी है! लेकिन एक बार क्रोध आ गया तो सासू रो-रो कर कहने लगी–साता के लिए तो बेटे का विवाह किया था, पर मेरे जी को उलटा दुःख हो गया! दिल उतर गया तो गड़ा हुआ धन भी बेटे को न बतलावे! या चुपके-चुपके बेटी को ही खिला दे। मरने के बाद बहू रोने लगे और कहे कि मुझे धन नहीं बतलाया तो स्त्रियाँ कहती हैं–तू सीधी रही होती न!

आशय यह है कि क्रोध सर्वत्र अनर्थ का ही कारण होता है। वह देश में, जाति में, समाज में, परिवार में और मित्र मंडली

में अशान्ति पैदा कर देता है; फूट डाल देता है और अव्यवस्था उत्पन्न करके उसका विनाश कर डालता है। अतएव भगवान ने क्रोध को त्याग देने की प्रेरणा की है। शास्त्रों में यही उपदेश दिया गया है कि क्रोध को त्याग देना चाहिए। क्रोध धर्म का-आत्म-कल्याण का विनाशक है और अत्यन्त भयानक है।

आप स्वयं बतलाइए कि आपको क्रोध पसंद है या शान्ति और क्षमा या दया पसंद है? सब क्षमा और शान्ति को ही पसंद करते हैं, फिर भी—

दया रूपी अमृत को तज कर,
क्रोध–ज़हर को खाता है।
फिर भी सुख की इच्छा रखता,
तरस इसी पै आता है॥

ऐ प्राणी! दया रूपी अमृत को फैंकता है और क्रोध रूपी ज़हर को सेवन करता है और फिर चाहता है कि मुझे सुख मिले! मगर मुझे तेरी समझ पर तरस आता है कि तू विष पीकर सुख की अभिलाषा करता है!

क्रोधी की संगति हो जाती है तो उसका असर अच्छे आदमी पर भी पड़े बिना नहीं रहता। इस संबंध मे शास्त्र में फर्माया है:—

अणासवा थूलवया कुसीला,
मिउं पि चंडं पकरेंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया,
पसायए ते हु दुरासयं पि॥

—उत्तराध्ययन, १

शिष्य बुरी आदत का हो तो उसका प्रभाव गुरु पर भी पड़ जाता है। कैसे पड़ता है? चेला अज्ञान है, गुरु का कहना नही मानता, गुरु के वचनों पर विश्वास ही नहीं करता। गुरु कुछ कहते हैं तो समझता है कि ये तो यों ही बड़बड़ाते रहते हैं और उनके कहने पर कान ही नहीं देता। यही नहीं, गुरु को कठोर वचन भी बोल देता है। गुरु कहते हैं--भाई, साधु को ऐसा करना नहीं कल्पता; तब वह कहता है--रहने दो, आजकल का समय ही ऐसा है। दूसरे भी तो ऐसा करते हैं! इस प्रकार दूसरों की नजीरें दे-दे कर गुरु के वचन को निष्फल कर देता है! उनकी आज्ञा को शिरोधार्य ही नहीं करता। धोवन-पानी लाने को कहा जाय तो कहता है--अभी कहाँ पड़ा है! फिर कहता है-महाराज, कितनी देर व्याख्यान वांचते रहोगे। हमें भोजन भी तो लाना पड़ेगा!

इतना ही नहीं, वह ज्ञानियों का अवर्णवाद करता है कि अमुक का चरित्र ठीक नहीं है, फलां ऐसा वैसा है। फिर बिना पूछे ही चला जाय व फिर आकर चुपचाप अपने आसन पर बैठ जाय। लोग पूछते हैं-अमुक महाराज कहाँ हैं? गुरु को पता न होने से वे कहते हैं--पता नहीं, कहाँ हैं। तब लोग समझ लेते हैं कि शिष्य इनके कहने में नहीं हैं।

अरे चेले! तू स्वर्ग में जाना चाहता है और मोक्ष में जाना चाहता है, लेकिन याद रखना, गुरु के विरुद्ध होकर यों ही रखड़ता-भटकता फिरा तो कुछ भी नहीं मिलने का है!

हाँ, तो जब चेला गुरुजी की आज्ञा मे न रहता हो तो योग्य गुरु भी पुनः पुनः प्रेरणा करते--करते क्रोधी बन जाता है। इस प्रकार खोटे की संगति से क्रोध आ जाता है।

कहा जा सकता है कि चेले की अपात्रता के कारण गुरु को क्रोध आ जाय तो उनका क्या होता है? भाई! क्रोध आने से गुरु को भी कर्म का बंध होता है।

कोई गुरु और चेला धर्मध्यान कर रहे थे। गोचरी का समय होने पर वे गोचरी के लिए निकले। चौमासे के दिन नजदीक आ गये थे। साधु को सदैव आगे को चार हाथ भूमि देखकर चलना चाहिए। कहा है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जय मासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पोवकम्मं न बंधई ॥

अर्थात-यतना के साथ चलना चाहिए, यतना के साथ खड़ा होना चाहिए, यतना के साथ बैठना चाहिए और यतना के साथ ही सोना चाहिए। यतना पूर्वक भोजन और भाषण आदि समस्त क्रियाएँ करने वाला पाप कर्म का बंध नहीं करता।

इस नियम के अनुसार गुरुजी चल रहे थे तो उन्हे राह में मरी हुई एक मेंढकी दिखाई दी। गुरुजी ने उससे बचने का यत्न किया, मगर एक ओर अचानक उस पर पैर पड़ ही गया। यह घटना चेले ने देख ली। वह विनीत नहीं था, अतएव कहने लगा-महाराज, आपने मेंढ़की मार डाली।

गुरु बोले—मैंने इससे बचने की पूरी कोशिश तो की थी, फिर भी पैर लग गया। परन्तु यह पहले ही मरी हुई थी। अभी नहीं मरी है।

चेला—वाह गुरुजी, मेंढकी मार कर निर्दोष बनते हो!

गुरु ने सोचा—इस समय वाद-विवाद में पड़ना उचित नहीं है। वह चुप रह गये। आहार लेकर अपने स्थान पर आये।

आहार-पानी से निवृत्त होकर गुरुजी अपने ज्ञान-ध्यान मे लग गये। गुरुजी जहाँ बैठे थे, उस कमरे का दरवाजा छोटा था और छत भी अधिक ऊँची नहीं थी। थोड़ी देर में चेला वहाँ आ गया और कहने लगा—गुरुजी, आपने मेढ़की मार डाली थी। उसका प्रायश्चित ले लिया या नहीं ?

गुरु शान्त प्रकृति थे। मगर अति शीतलता में भी क्या होता है ?

अति शीतलता क्या करे, दुर्जन का बहु लाग।
घसते-घसते होत है, चन्दन मुख पर आग॥

देखो, चन्दन शीतल होता है, मगर अधिक घिसने पर उसमें से भी आग निकलने लगती है।

चेले के बार--बार कहने पर गुरुजी की शान्त प्रकृति भी भंग हो गई और उन्हे क्रोध आ गया। गांधीजी अहिंसावादी थे। अहिंसा का ही पक्ष ग्रहण करते थे। अहिंसा से ही उन्होंने स्वा--धीनता प्राप्त की। मगर जब दुश्मनों ने अत्याचार किया तो उन्होने भी युद्ध के लिए अपना आशीर्वाद दिया। जवाहरलालजी ने भी यही कहा। अहिंसा के भक्त थे, लेकिन अत्याचार करने वाले जब अत्याचार करने लगे तो उन्हे भी कहना पड़ा कि हिन्दुस्तान कमजोर नहीं है। इस प्रकार अति रगड़ से चन्दन में से भी आग निकलने लगती है।

इस प्रकार गुरु को भी क्रोध आ गया। क्रोध में एकदम खड़े हुए तो मस्तक में पत्थर की किरच घुस गई। तीव्र आघात लगने से उनकी मृत्यु हो गई। तीव्र क्रोध की हालत में मरने से

गुरुजी राजगृह नगर के बाहर साँप के रूप में उत्पन्न हुए। संयम पालन करते हुए तपस्या ऐसी की थी कि स्वर्ग में जाते तो विपुल ऋद्धि के धारक देव के रूप में जन्मे होते; मगर क्रोध के कारण उन्हें साँप की योनि मिली। साँप होने पर भी तपस्या के प्रभाव से इतना तेज प्राप्त हुआ कि जितनी जगह मे साँप फुफकार मारता उतनी जगह में घास-पान ही नहीं उगता था! काला भुजंग और ऐसा प्रचण्ड कि कुछ पूछिए मत। खेती करने वाले, घास-लकड़ी काटने वाले, जानवरों को चराने वाले उधर जा पहुँचते तो दौड़ कर उन्हें काटता और खत्म कर देता। अतएव उसके भय से लोगों का उधर आना-जाना वंद हो गया। कौन जाय वहाँ अपने प्राण गँवाने के लिए!

साँपने तहलका मचा दिया आखिर राजा श्रेणिक को घोषणा करवानी पड़ी कि जिसे अपने प्राण प्यारे हों वह उस तरफ जंगल मे न जावे!

यद्यपि वह ऐसी जगह थी कि वहाँ घास,लकड़ी और कोयला बहुत होता था और कितने ही गरीब अपनी रोजी पाते थे, मगर रोजी के लिए प्राण तो दिये नहीं जाते। अतएव सबने उधर जाना वंद कर दिया। बड़ा संकट उत्पन्न हो गया। गरीबों को आजीविका नहीं मिलने लगी। तब लोग भगवान् से प्रार्थना करने लगे-प्रभो! हमारा दुःख दूर कीजिए! हम बड़े बेहाल हो गये हैं।'

इधर लोग भगवान् को मना रहे थे और उधर भगवान् महावीर ने दीक्षा अंगीकार की।

कर्म काटने के खातिर श्री महावीर अनगार।
उसी सर्प की वांभी ऊपर ध्यान धरन का किया विचार॥

भगवान् महावीर ने परोपकार के लिए क्या नहीं किया ? जब भक्तों पर संकट आया और भगवान् उस समय सहायता न करें तो कब करें ?

उस समय राजगृह नगर प्रथम कोटि का नगर था। कहा है—

धन धर्मी नालंदी पाड़ा, दोनों बात विशेखोजी।
फिर-फिर वीर आया बहु विरिया, बहु उपकारज देखोजी॥

उस नगर में दो बातें उल्लेखनीय थी—वहाँ धनवान् भी थे और धर्मात्मा भी थे। इन दोनों विशेषताओं का मिलना प्रायः कठिन होता है, क्यों कि जहाँ धन का प्राचुर्य होता है, वहाँ विलासिता आ जाती है। किन्तु राजगृह इस नियम का अपवाद था। वहाँ के लोग धनाढ्य होने पर भी धर्मात्मा इतने थे कि साधु मुनिराज विराजमान हों तो दर्शन किये विना पानी भी मुँह में नहीं लेते थे।

भगवान् ने विचार किया—साँप के आतंक से लोग भयभीत हैं। कितने ही आजीविका हीन हो गये हैं और कितने ही मारे जा चुके हैं। इस आतंक का अन्त करना चाहिए। जनता का दुःख दूर करने के लिए सर्प की बांबी पर जाकर ही ध्यान लगाना चाहिए।

अहा ! धन्य है भगवान् महावीर की भक्तवत्सलता ! उन्हें दूसरों के सुख के लिए अपने सुख की परवाह नहीं। स्वयं बड़े से बड़ा दुःख झेल सकते हैं, पर दूसरे को दुःख नहीं दे सकते, दूसरे का दुःख देख भी नहीं सकते और उसे दूर करने का प्रत्येक उचित उपाय करने को उद्यत हैं। ऐसे करुणासागर प्रभु धन्य हैं।

हाँ, तो भगवान् महावीर उसी जंगल की ओर चल पड़े। लोगों ने देखा तो समझे कि इन्हें साँप का हाल मालूम नहीं है, इसी से जा रहे हैं और इनके प्राण नहीं बचेंगे। अतएव वे कहने लगे- महाराज, इधर आगे मत जाइए। साँप का बड़ा भय है। जो इधर जाता है, वह सीधा परलोक चला जाता है। नाथ! साँप क्या है, जलती हुई आग है। प्राणहारी विष का पुंज है। आप लौट जाइए। दूसरी राह पकड़िये।

मगर भगवान ने किसी की नहीं सुनी। वे अनजान नहीं थे। समझ-बूझ कर उधर जा रहे थे। लोगों के संकट को काटने के लिए जा रहे थे। वे सीधे साँप की बाँबी की ओर चले बांबी पर पहुँच कर ध्यान-मग्न हो गये।

साँप उस समय बांबी के भीतर था। उसने आहट पाकर सोचा-यह कौन है जो यहां आया है? क्या इसे प्राणों का भी मोह नहीं है? यह सोच कर उसने जोर की फुफकार की। मगर भगवान् के साढ़े तीन करोड़ रोमों में से एक भी रोम में भय का संचार न हुआ। निडर, निर्भीक और निश्चल खड़े रहे। सांप क्रोध से जल उठा। उसने भगवान् के अंगूठे में जोर से दांत गड़ा दिये।

मारा डंक साँप ने चढ़ कर, दूध की जब निकली धार।
यह तो अतिशय का कारण था, दूध मीठा नहीं था खारा॥

साँप ने इतने जोर से काटा कि मांस ही खींच लिया। शरीर से दूध के समान श्वेत तरल पदार्थ की धारा बहने लगी। यह देख कर सर्प सोचने लगा--बात क्या है? औरों के शरीर में से तो रक्त निकलता है, पर इसके शरीर से यह दूध कैसे निकल पड़ा? यह तो अद्भुत बात हुई!

तीर्थंकरों का अतिशय ऐसा ही है कि उनका रुधिर श्वेत वर्ण का होता है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। माताओं के स्तनों में रक्त भरा हुआ है। स्तन काटने पर लाल-लाल खून ही निकलेगा। लेकिन जब बालक गर्भ में आता और जन्म लेता है, तो वही लाल रंग का रुधिर श्वेत दूध के रूप में पलट जाता है। इसका कारण बच्चे के प्रति माता का वात्सल्य भाव है। जब एक बच्चे की वत्सलता ने माता के रक्त को दूध बना दिया तो जगत् के अनन्त जीवों पर असीम वात्सल्य रखने वाले भगवान का रुधिर दुग्धवर्ण हो, इसमें कौन-सी अनहोनी बात है? भगवान् महावीर का सभी प्राणियों पर एक-सा प्रेम था। उसी प्रेम में पूर्ण सात्विकता थी। भगवान् की लेश्या भी शुक्ल थी। अतएव उनका रुधिर श्वेत होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

साँप सोचता है—प्रथम तो यहाँ आने का कोई साहस ही नहीं करता। कदाचित् भूला-चूका, यमराज द्वारा प्रेरित होकर कोई आया भी और उसे काटा तो लाल रंग का खारा खून ही निकला। मगर यह कोई निराला ही मनुष्य है, जिसके अंगूठे से मिश्री जैसा मीठा और श्वेत वर्ण का खून निकल रहा है!

अहा, जैसे बहुत पुरानी घटना याद आ रही है! जान पड़ता है, इस रूप के दर्शन पहले मैंने किये है। इस प्रकार सोचते-सोचते साँप को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। उसे याद आया कि पहले भव में मैं भी साधु था। क्रोध करने से मुझे सर्प की योनि में जन्म लेना पड़ा है।

सर्प पश्चाताप करने लगा—धिक्कार है मेरी आत्मा को। इतने वर्षों तक संयम का पालन करने के पश्चात् भी मैं पतित हो हो गया। सर्प बन कर भी भगवान् को डँस लिया।

तब भगवान् ने उसे प्रतिबोध दिया—

कहा वीर ने ए सर्प तुम पूर्व जन्म को याद करो।
वार वार क्रोधातुर हो मत जीवन को बर्बाद करो॥

ऐ सर्प! तुम अपने पहले के भव का स्मरण करो। तुम साधु थे और क्रोध करने के कारण ही मर कर साँप हुए हो। फिर भी क्रोध करके अपना भविष्य बिगाड़ रहे हो?

सर्प को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। उसने आगे किसी को भी न सताने का प्रण किया। यही नहीं, जीवन पर्यन्त आहार-पानी का भी त्याग कर दिया। इसके पश्चात् उसने मुँह बांबी में घुसेड़ लिया और धड़ बाहर पड़ा रहने दिया।

जिन्होंने भगवान् को सर्प की ओर जाते देखा था, वे यही समझ बैठे थे कि महात्मा अब नहीं बचेंगे मगर ज्यों ही भगवान् को वापिस लौटते देखा, उनकी प्रसन्नता का पार न रहा। सब कहने लगे-यह तो अवतारी पुरुष हैं! धर्म के अवतार हैं। इनका प्रभाव और महात्म्य अद्भुत है!

भगवान् विहार करके अन्यत्र चले गये। लोगों ने सोचा-जाँच करनी चाहिए कि साँप मर गया है या क्या हुआ है? कुछ लोग इकट्ठे होकर हाथों में लाठियाँ लेकर, साहस करके उधर गये तो देखा--सर्प जीवित तो है, पर सामने नहीं आता। मुँह छिपाये पड़ा है।

फिर सोचा-मर तो नहीं गया? एक ने लकड़ी से उसे हिलाया। मालूम हुआ अभी जीवित होकर भी किसी को सताता नहीं है। तब उन्होंने कहा-'ये तो गोगा देव हैं!' उस दिन लोग

थालियों में कुंकुम आदि सजा कर लाये। गोगा देव का पूजन किया, जैसे आज गोगा-नवमी को साँप की पूजा की जाती है।

मगर सर्प का पूजन उसकी मुसीबत का कारण बन गया। पूजन की सामग्री मिठाई वगैरह उसके शरीर पर डालने से लाल कीड़ियों की कतार की कतार आने लगी। सर्प ने कुछ भी प्रतिरोध नहीं किया। वह शरीर की ममता का त्याग कर चुका था। अतएव कीड़ियों को स्वराज्य मिल गया। उन्होंने उसके शरीर को कुरेदना आरंभ किया। मगर दुस्सह वेदना होने पर भी सर्प पूर्ण समभाव में स्थिर रहा। उसने अपनी काया को हिलाया भी नहीं। चीटियों के काटने से सर्प का शरीर चालनी जैसा हो गया। अन्त में उसने समभावना के साथ शरीर त्याग किया। भगवान् महावीर के प्रतिबोध के प्रभाव से उसे आठवें देवलोक की प्राप्ति हुई।

भाइयो! क्रोध कैसी दुर्दशा का जनक होता है, यह बात आप इस उदाहरण से समझ सकते है। इस क्रोध के प्रताप से एक मुनि को भी सर्प की योनि में जन्म लेना पड़ा और अन्त में क्रोध का त्याग करने पर ही उसका उद्धार हुआ। क्रोध के त्याग से उसे देवत्व की प्राप्ति हुई। इसी कारण भगवान् ने फर्माया है कि क्रोध मत करो। तुम्हे मालूम नहीं है कि तुम्हारी उम्र कितनी है? वह किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। इस थोड़ी-सी उम्र में क्रोध करके क्यों अपनी जिंदगी बर्बाद करते हो? कदाचित् क्रोध की उपशान्ति होने से पहले ही प्राण निकल गये तो तुम्हारी क्या दशा होगी?

क्रोध करने में तनिक भी तो आनन्द नहीं प्रतीत होता। हो भी कैसे सकता है? क्रोध तो आन्तरिक आग है जिसमें मनुष्य पहले आप जलता है और फिर दूसरों को जलाता है। दूसरों को

जला पाय या न जला पाय, मगर आप तो जलता ही है। इस प्रकार क्रोध का तात्कालिक फल अशान्ति है और भविष्यत्कालीन फल अधोगति है। भगवान कहते हैं—

अहे वयइ कोहेणं।

क्रोध से जीव का अधःपतन होता है। अतएव जो शान्ति चाहते हैं, उन्हे क्षमा का अभ्यास और आराधना करके क्रोध को दूर करना चाहिए। जो क्रोध का त्याग करके क्षमाधर्म को अंगीकार करते हैं, वे इस जन्म में और अगले जन्म में भी आनन्द ही आनन्द भोगते हैं।

ब्यावर (अजमेर)
१२-१०-४७



विषय-वासना

स्तुतिः—

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग—
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभ-देव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

हे प्रभो ! जब आप इस जगतीतल पर विचरण करते हैं तो आकाश में देव दुंदुभि बजाते हैं। उसकी गंभीर और उच्च ध्वनि से समस्त दिशाएँ व्याप्त हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि दुंदुभि

आपके निर्मल यश की उद्घोषणा करती है। वह तीनो लोकों के जीवों को शुभ का समागम कराने वाली है। वह सूचित करती है कि-सावधान. धर्म-राजा का पदार्पण हो रहा है। पधार गये; पधार गये, आदिनाथ भगवान् पधार गये, इस प्रकार की घोषणा न हो तो बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी अयोध्या जैसी विशाल नगरी में पता ही कैसे चले कि तीन लोक के नाथ परमप्रभु का पदार्पण हुआ है।

आज मुनिराज पधारते हैं तो छोटे गाँवों में तत्काल बात फैल जाती है, परन्तु बड़े शहरों में पता ही नहीं चलता। बहुत-से लोग दर्शन और धर्मोपदेश सुनने से वंचित ही रह जाते है। दूसरों के यहाँ कम से कम इतनी व्यवस्था तो हैं कि सेवग व्याख्यान का घर-घर बुलावा दे आता है, जिससे लोगों को पता चल जाता है और वे आ जाते हैं।

हाँ, तो अगर किसी को सूचना न मिले तो उसे पश्चात्ताप होता है। वह सोचता है-मैं अत्यन्त अभागा हूँ कि भगवान पधारे और मै उपासना से वंचित ही रह गया।

भाइयो ! इस प्रकार की खबर फैलाने में भी बड़ा लाभ है। यह भी एक प्रकार की धर्म-दलाली है। परन्तु बहुत से लोग स्वयं तो व्याख्यान सुनने आ जाएँगे, परन्तु अपनी औरत से भी नहीं कहेगे कि तुम भी व्याख्यान मे आ जाना। उचित तो यह है कि अगर आप संतसमागम का लाभ उठाते हैं तो दूसरो को भी उसमें भागीदार बनावें। दूसरों से कहे, प्रेरणा करे और प्रयत्न करें कि वे भी लाभ उठावें. कोई तुम्हारी माने या न माने, तुम्हे दलाली का फल तो मिल ही जायगा। अगर वह संतो के समागम मे आया

और सन्मार्ग का पथिक बन गया तो उसका भी महान् कल्याण होगा और उसके द्वारा न जाने कितनों का भला हो जाएगा। कोई कह सकता है कि-महाराज, कितनी बार प्रेरणा की जाय! मगर कोई नहीं आएगा तो वह अपना कर्म भोगेगा। मगर तुम्हारी भावना तो शुद्ध ही थी, अतएव तुम्हें तो लाभ होगा ही होगा। मान लीजिए, मैं वीतराग देव की मंगलमयी वाणी आपको सुनाता हूँ। आपमें से कितने ही लोग उस पर आचरण करते होंगे, जो आचरण नहीं कर सकने, वे उस पर श्रद्धा करते होंगे। मगर कोई ऐसा भी हो सकता है जिसे वह वाणी रुचिकर न हो या अरुचिकर हो। मगर मुझे इससे क्या मतलब? मैं अपने कर्मों की निर्जरा के लिए और आपके अनुग्रह के लिए भगवान् की वाणी सुनाता हूँ। सुनने वालों को धर्म की प्राप्ति हो सकती है और नहीं भी हो सकती, परन्तु परोपकार भावना से सुनाने वाले को तो लाभ होता ही है।

इसी प्रकार आप परोपकार-भाव से दूसरों को प्रेरणा करेंगे तो आपको तो लाभ होगा ही। जिन्हें प्रेरणा की है वे मानेंगे तो उनका कल्याण होगा। न मानेंगे तो कल्याण से वंचित रह जाएँगे। परन्तु आपको तो लाभ के सिवाय घाटा है ही नहीं। इस प्रकार आज दुंदुभि नहीं है तो आप लोग तो हैं ही, जिनकी धर्म पर पूर्ण आस्था है। आपको व्याख्यानवाणी संबंधी संवाद अधिक से अधिक प्रसारित करना चाहिए।

देवदुंदुभि जिनके यश को तीनों लोकों में फैलाती है, उन भगवान ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

जो भव्य जीव भगवान के चरणारविन्द में उपदेश श्रवण करने के लिए उपस्थित होते थे, उन्हे भगवान क्या उपदेश देते थे? इस विषय में कहा है—

सुणिया भवे अकामे, अझंझे।

श्रीमद् आचारांगसूत्र के पाँचवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में भगवान फर्माते हैं–भव्य जीवो ! आपने सुना है कि विषय और कसाय के कारण जीवों को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। विषय और कषायों का दुःख बहुत जबर्दस्त है। विषयों और कषायों की बदौलत ही संसार के समस्त प्राणी घोर पीड़ा पा रहे हैं।

विषयो की प्राप्ति और पूर्त्ति के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन कमाने के अनेक तरीके है। कोई दुकानदारी करते है और तकलीफ भोगते है। कभी-कभी ऐसा भी कोई ग्राहक आ जाता है कि गालियाँ देने लगता है या पूजा भी उतार देता है। मगर विषयों की पूर्त्ति के लिए दुकानदार को सब कुछ सहन करना पड़ता है। धन होगा तो सगाई होगी, विवाह होगा, ऐश-आराम करेंगे, इसी विचार से लोग दुकान करके धनोपार्जन में कष्ट उठाते हैं।

कई लोग नौकरी करते हैं और मालिक की खरी खोटी बातें और गालियाँ सहन करते हैं। मालिक कहता है—नालायक ! इतनी देर से क्यों आया ? प्रत्युत्तर में कहना पडता है-साहब. माफ कीजिये। कहीं अकड़ कर बोल पड़े तो नौकरी से हाथ धोने की नौबत आ गई।

विषय वासनाओं की पूर्त्ति के लिए ही लोग देश--देश मे भटक कर पैसा पैदा करने की तरकीबें करते है। वहाँ जा कर अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं, क्यों कि—

परदेश क्लेश नरेशन को।

घर से बाहर निकलने पर तो राजाओं को भी कष्ट भोगना ही पड़ता है। घर की सब सुविधाएँ परदेश में नहीं मिल सकती।

कई लोग विषयप्राप्ति के हेतु नाना प्रकार के पापमय और अनैतिक धंधे करने में लगे हुए हैं। किसी ने कत्लखाना चला रक्खा है तो कोई मांस-मदिरा का विक्रय कर रहा है। कोई दुराचार को उत्तेजना देकर समाज में सड़ांद पैदा कर रहा है तो कोई चोरी, डकैती करके या जेब काट कर ही पैसा बनाने की धुन में है। कदाचित् पकड़ में आ गया तो वर्षों कारागार के कष्ट भोगता है।

इन सब झंझटों के मूल में एक मात्र अभिलाषा रहती है विषयपूर्त्ति का। मनुष्य यह नहीं देखता कि कब तो सगाई होगी, कब विवाह होगा, कब सुख मिलेगा और कब सन्तुष्टि होगी, मगर कष्ट और पीड़ाओं का भोग तो अभी से आरंभ हो गया है! कदाचित् सगाई होने का अवसर आता है तो कितनी ही झंझटें करनी पड़ती है। विवाह करना होगा, मगर पैसा नहीं! जेवर चढ़ाना होगा मगर सोना खरीदने की गुंजाइश नहीं! भोज देने में जो खर्च होगा वह कहाँ से आयगा? इस प्रकार की चिन्ताएँ उसके चित्त को परेशान कर देती हैं! कभी किसी सेठ की चापलूसी करता है कि कर्ज मिल जाय और कभी दो दिन के दिखावे के लिए किसी से गहना माँगता फिरता है! मन में नाना प्रकार की कुशंकाएँ उठती रहती हैं। कहीं ऐसा न हो कि सगाई छूट जाय! लड़की वाला लोभ में आकर किसी दूसरे से सगाई न कर दे! इस तरह न तन को आराम, न मन को चैन!

कदाचित् घर में औरत आ गई तो वह परेशान करती है-ऊखल लाओ, मूसल लाओ, थाली कटोरियाँ, गादा, साड़ी लाओ! यह लाओ, वह लाओ। फलां पड़ौसिन के पास इतनी बढ़िया-बढ़िया

साड़ियाँ हैं, मेरे पास यह चिथड़े है। घर में आज यह नहीं है, वह नहीं है ! इस प्रकार औरत की फर्माइशें पूरी करते-करते ही बेचारे की अक्ल दुरुस्त हो जाती है ! पैसा न हो तो चोरी करता है और चोरी करते पकड़ा जाता है तो जेलखाने की हवा खोता है ! फिर भी चिन्ता घर की बनी रहती है कि वहाँ कोई उल्टा काम न हो जाय !

भाइयो ! विषय वासना का दुःख थोड़ा मत समझो। इसके पीछे आज हजारों लाखों नहीं, करोड़ो जीवन बर्बाद हो रहे हैं। बड़े-बड़े प्रतिभाशाली लोग इस चक्कर में पड़ कर मूर्ख बन जाते हैं। कितने ही उदीयमान नक्षत्रों को विषयवासना ने उदित होने से पहले ही अन्त कर दिया है। विषयवासना वह पिशाचिनी है कि न जाने कितनों को अपना भक्ष्य बना चुकी है।

किसी--किसी को तो ऐसी महारानी से पाला पड़ जाता है कि वह धोक देने पर ही सन्तुष्ट होती है। कभी पैरों में पगड़ी रखनी पड़ती है। ऐसी पुण्यवती सती सन्नारी कोई बिरली होती है जो सब प्रकार के कष्ट सहन करके भी अपने पति को सन्तुष्ट और सुखी रखने का प्रयत्न करती है।

भाइयो ! केवलियों के वचन कदापि अन्यथा नहीं हो सकते। उन्होंने विषय--वासना संबंधी जो दुःख बतलाये हैं, वे प्रत्यक्ष हैं। वास्तव में विषय आदि, मध्य और अन्त में दुःख के ही कारण होते हैं। वे अनर्थों की खान हैं। जीवन को विनष्ट कर देते हैं।

एक चिरंजीलाल थे। बढ़िया जूतियाँ पैरों मे पहनने को थीं। रेशम का कोट, टेढ़ी टोपी पहने गुलूबन्द न्यारा गले में। सोने की फ्रेम का चश्मा नाक पर चढा और पान चबाते हुए थे। हाथ में लचीली बेंत अलग। वे कपड़े की एक गांठ कंधे पर लिये हुए गलियों

में फिर रहे है। शहर में कपड़ो को फेरी का धंधा है। लेकिन बड़े अकड़ कर चलते हैं। फेरी फिरते-फिरते एक दिन राजमहल की ओर निकल पड़े। रास्ते में कीचड़ था, अतएव उन्होंने गांठ में से छींट को कपडा निकाल कर कीचड़ पर बिछा दिया और उसके ऊपर होकर निकले। इस प्रकार उन्होंने अपने जूतों को जरा भी खराब न होने दिया।

संयोगवश रानी ने महल के झरोखे में से यह माजरा देख लिया। उन्होंने सोचा-ऐसा जेंटिलमेन है यह फेरी वाला। मालूम होता है, अभी इसकी शादी नहीं हुई है। रानी साहिबा ने कुतूहल-वश चिरंजीलाल को नौकर भेज कर अपने पास बुलवाया। उसके पहुँचने पर रानी ने पूछा-तुम्हारा विवाह हुआ या नहीं ?

चिरंजीलाल ने किंचित् संकोच के साथ कहा-अभीतक तो नहीं हुआ महारानी साहिबा।

महारानी ने उसे पाँच सौ रुपये देते हुए कहा-लो, यह ले जाओ और विवाह कर लो।

चिरंजीलाल का विवाह हो गया। दो वर्ष बीत गये मगर चिरंजीलाल अब वह चिरंजीलाल नहीं रहे। अब कधे पर कोथला लादे, फटे जूते पहने, फटे और मैले-कुचैले कपड़े पहने, मैली-सी टोपी मस्तक पर धारण किये, कीचड़ में पाँव रखते हुए उसी राज महल की ओर से चले जा रहे हैं। रानी ने इस बार फिर देखा और पहचान लिया कि यह वही छैला चिरंजीलाल है।

रानी ने नौकर भेजा बुलाने के लिए और चिरंजीलाल राज-महल में पहुँचे। रानी ने प्रश्न किया -विवाह हो गया ?

चिरंजीलाल—जी हाँ।

रानी—अब रंग ढंग बदल कैसे गया ? सोने की फ्रेम का चश्मा कहाँ गया ? लाला चिरंजीलाल का वह रंग कहाँ गया ?

चिरजीलाल—आपके दिये पाँच सौ रुपयों ने सारा रंग बिगाड़ दिया । उस दान की बदौलत यह दशा हुई । पहले गावों में जाता था तो कहा करता था-'लो छींट का कापड़ा । तब औरतें कहती थीं-'परएया क्यों नी वापरणा ।' अब बेहाल होकर जाता हूँ और कहता हूँ-'तेल शक्कर खारो ।' तब औरतें कहती है-'परणो ने झक मारी ।'

भाइयो ! विषयों को हवस मनुष्य को क्या से क्या बना देती है । ठीक ही कहा है—

भूल गया राग-रंग, भूल गया अकड़ी ।
तीन बात याद रही, लूण तेल लकड़ी ।

यह विषयों की अभिलाषा का दुःख है । किसी-किसी जीव के कर्मों का ऐसा उदय आता है कि उसे हिताहित का भान नहीं रहता । वह भूल जाता है अपनी कुलीनता को अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा को और प्रतिष्ठा को ! वह हिताहित के विवेक से भी शून्य हो जाता है ।

इलायची कुमार का दृष्टान्त आपने सुना होगा । विवाह विषयक विषय की पूर्त्ति के लिए उसकी क्या विडंबना हुई ! वह विषय-वासना से अंधा हो गया ।

धनदत्त सेठ को दीकरो, नटवी देखि ने मोहियो ।
नहीं राख्यो घर को जी, सुन कर्म न छूटे रे प्राणिया ॥

भाइयो! धनदत्त नामक एक बड़े सेठ थे। उनके यहाँ अपार धन सम्पत्ति थी। एक ही पुत्र था जिसका नाम इलायची कुमार था। वह बड़ा रूपवान और पढ़ा-लिखा था। प्रतिष्ठित घराने मे उसका विवाह हुआ था। कुलीन होने के कारण पत्नी बड़ी सुशीला और भाग्यवती थी।

अच्छे-अच्छे सेठों के नवयुवक लड़कों से इलायची कुमार की मित्रता थी। इलायची कुमार स्वयं भी सुसंस्कारी था।

एक बार नटों का खेल आया। हजारों लोग खेल देखने के लिए पहुंचे। इलायची कुमार भी गया। नट के दल में एक कुँवारी लड़की थी और उसने भी खेल में भाग लिया। खेल करने मे वह बहुत कुशल थी और सुन्दर रूप की धनी थी। कुमार उस कन्या के सौन्दर्य को देखते ही बेभान हो गया। वह कन्या की रूपराशि पर मुग्ध हो गया था। नौबत यहाँ तक पहुँची कि उसके मित्रों ने मिल कर किसी प्रकार उसे घर तक पहुँचाया। उसे उस नटकन्या के सिवाय और किसी भी बात का होश न रहा। वास्तव में कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है।

बाप आया और उसने पूछा-बेटा, तुझे क्या दुःख है?

कामातुराणां न भयं न लज्जा।

जिसके अन्तःकरण में काम-वासना जागृत हो जाती है, उसे न तो भय रहता है और न लज्जा ही।

कुंवर ने निर्लज्ज होकर पिता से कहा--मेरा मन उस नटिनी ने आकर्षित कर लिया है। अगर आपने मेरा संबंध उसके साथ न कर दिया तो मेरे प्राण बचना कठिन है।

अपने पुत्र की यह बात सुनकर पिता के मन में क्या-क्या और कैसी-कैसी भावनाएँ उत्पन्न हुई होंगी, यह तो भुक्तभोगी ही समझ सकते हैं। पिता क्षोभ, लज्जा, अपमान और अप्रतिष्ठा के भय से काँप उठा। क्षण भर उसने अपने प्रिय पुत्र के चेहरे पर आँखें गड़ाई और उसके मनोभाव का अध्ययन किया। फिर किसी प्रकार अपने विचारों को दबा कर कहा—बेटा, जरा खयाल तो कर। विवाह संबंध सदृश कुल में होता है। कहाँ अपना कुल और कहाँ नट का ! दोनों में कोई तुलना नहीं। तू क्या कहता है ?

मगर कुमार ने पिता की बात पर ध्यान न देते हुए कहा—उसके साथ मेरा विवाह न हुआ तो निश्चय जानिए कि मैं जीवित नहीं रह सकता ?

पिता—बेटा, यह तेरा भ्रम है। तू मोह में पड़कर ऐसा सोचता है। क्या पुरखाओं की विमल कीर्त्ति मे धब्बा लगाना उचित होगा ?

पुत्र—पिताजी, एक ओर प्रतिष्ठा और दूसरी ओर पुत्र है। आप जिसे चाहे, रख ले। लेकिन इसमें प्रतिष्ठा जाने का प्रश्न भी कहाँ है ? नीतिकार कहते हैं—

कन्यारत्नं ग्राह्यं दुष्कुलादपि।

अर्थात्—कन्या अगर श्रेष्ठ है तो नीच कुल से भी ग्रहण की जा सकती है। इतिहास में ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं। यह आवश्यक नहीं है कि नीच कुल मे सब ही नीच उत्पन्न हों और उच्च कुल में सब उच्च ही।

पिता—नीच कुल मे ऊँच पैदा होने का उदाहरण वह

नटिनी है और उच्चकुल में नीच पैदा होने के उदाहरण शायद तुम स्वयं बनना चाहते हो!

पुत्र—आप जो समझें।

धनदत्त वहाँ से चला गया। मगर उसके अन्तःकरण में भीषण तूफान उठ रहा था। इकलौता बेटा है। कहीं कोई अमंगल हो गया तो क्या होगा?

फिर सोचता—कदाचित् नट कन्या अच्छी भी हो तो भी उसे अपनी पुत्रवधू बनाने पर लोग क्या कहेंगे? मुँह दिखलाना भी कठिन हो जायगा। लोगों के ताने कैसे सुने जाएँगे?

इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व में पड़े सेठ धनदत्त का चित्त अन्ततः पुत्रमोह की ओर ही झुका। आखिर उसने यही तय किया कि लोक-हँसाई के भय से इकलौते लड़के के जीवन को विपद् में डालना अच्छा नहीं। जब उसके मन में यह निश्चय हो गया तो उसने अपने निश्चय के अनुकूल अनेक तर्क भी सोच लिये--कन्या तो गंगा की धारा के समान पवित्र ही होती है। वह कोरा पात्र है। उसमें अपावनता की कल्पना मिथ्या है। आखिर शास्त्र भी तो जाति की निस्सारता प्रदर्शित करके गुणों को ही महत्त्व देता है। जहाँ लोक और शास्त्र का विधान परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता हो, वहाँ शास्त्र के विधान का ही अनुसरण करना हितकर है!

फिर लोक का विधान है क्या चीज? उसमें कहीं भी एक--रूपता नहीं रहती। लोगों के संस्कार नाना प्रकार के परस्पर विरोधी होते हैं और वे ऐसी ही उलजलूल धारणाएँ बना लेते हैं। उनमें कोई प्रमाणिकता नहीं होती। अतएव उनके वशीभूत होकर इष्ट का विघात करना उचित नहीं है।

लोक के विधान रीति--रिवाज के रूप में होते हैं। वे बनते और बिगड़ते रहते हैं। उनमें कोई स्थायित्व नहीं, कोई महत्त्व नहीं।

इस प्रकार विचार कर धनदत्त सेठ स्वयं नट के डेरे पर गया। पहले मुनीम को भेजने का बिचार किया था। फिर सोचा--महत्त्वपूर्ण कार्य है। नट कोई ऊँचा--नीचा प्रश्न कर बैठा तो मुनीम क्या उत्तर दे सकेगा ? वह मेरे पास पूछने आएगा। इससे बेहतर तो यही है कि मैं स्वय चला जाऊँ। कहावत है--'अपने काम सुधारो हाथोंहाथ रावले पधारो।'

सेठ धनदत्त गाँव के बाहर ठहरे हुए नटों के डेरे में पहुँचा। नटों के मुखिया को बुलाया। उसने आते ही पूछा--माँ-बाप ! क्या खेल कराना है ?

तब सेठने कहा—

हीरा पन्ना रे लीजिए, पन्ना लाल जुहार।
बेटी दीजे रे लाड़ली, सारो मारो रे काज ॥

सेठ ने कहा—नटराज ! अपनी प्यारी पुत्री का मेरे लड़के के साथ विवाह कर दो। इसके बदले जो चाहोगे, वही मिलेगा। हीरा, पन्ना, माणक, मोती, सोना आदि सब देने को तैयार हूँ। बस, अपनी लड़की दे दो।

नट बोला—

नट कहे सेठजी सुणो, नहीं म्हारे धनरी चाय।
जो घर रेवे रे मायरे, बेटी देउं परणाय ॥

सेठजी, मुझे हीरा, पन्ना आदि कुछ भी नहीं चाहिए। धन की मुझे भूख नहीं है। मेरे यहाँ सिर्फ एक लड़की है, कोई लड़का नहीं है। अतएव मैं लड़की उसे दूंगा जो मेरा घर-जमाई बनेगा। इसके सिवाय किसी भी अवस्था में हजार उपाय करके भी लड़की नहीं दे सकता।

नटराज का उत्तर सुनते ही सेठ का मुँह उतर गया। वह उदास-चित्त हवेली आये और कुमार के पास गये। जाते ही उसने प्रश्न किया—क्या हुआ पिताजी ?

सेठ ने उदास भाव से कहा—

सेठजी आई यों कहे, सुणो बेटाजी बात।
जो घर छोड़ोरे आपणो, तो नटवी थारे रे हाथ॥

बेटा, यह प्रचुर धन-सम्पत्ति स परिपूर्ण घर त्याग कर नट बनो और उसके घर--जमाई होकर रहो तो वह नटनी हाथ आ सकती है।

यह सुनते ही कुमार पलग से उतर कर नीचे खड़ा हो गया और बोला—मैं घर जमाई बनने को तैयार हूँ।

माता ने मना करते हुए कहा—

माता सुणीरे वातड़ी, आई पुत्तर रे पास।
अब बुढ़ापा के मायने, मत देओ रे त्रास॥

बेटा, तू पागल तो नहीं हो गया ? कहाँ जाने को तैयार हो रहा है ? मैंने नौ महीने तक तुझे पेट में रक्खा है स्वयं गीले में सोकर तुझे सूखे में सुलाया है। सो क्या इसीलिये कि तू बुढ़ापे में

हम लोगों को कष्ट देगा ? नहीं बेटा, ऐसा नहीं करते। जरा विचार तो करो कि तुम्हारे पिताजी के लिए दूसरा सहारा क्या है ? इस प्रकार कह कर माता ने उसका रास्ता रोक लिया।

कुमार की पत्नी भी वहाँ आ पहुँची थी। उसने कहा—

कर जोड़ी कहे कामिणी, सुण सुण बालम बात।
पहले परणी किम छोड़िये, मत गालो मुझ गात ॥

आँखों में आँसू भर कर और हाथ जोड़ कर पत्नी ने अत्यंत करुण स्वर में कहा--नाथ ! आपने मुझे अंगीकार किया है। ब्याह कर अपने घर लाये हो। अब छोड़ कहाँ जाते हो ? आपके वियोग में मेरा शरीर गल जायगा। मैं जीवित नहीं रह सकूँगी।

परिवार के अन्य जनों ने भी कुमार को बहुत समझाया। परन्तु उसके चित्त में एक भी नहीं जँची। विषयवासना इतनी जबर्दस्त होती है कि वह मनुष्य को पूरी तरह पागल बना डालती है। उसकी विवेक--बुद्धि पर पोता फेर देती है। विषयान्ध मनुष्य उचित--अनुचित का विवेक करने में सर्वथा असमर्थ बन जाता है।

आखिर कुमार नट के डेरे पर जा पहुँचा। नटराज से मिल कर उसने कहा--लो, मैं आ गया हूँ।

नटराज--मैं तुम्हें घर--जमाई बनाने को तैयार हूँ; किन्तु कुंवरजी ! आज तक तुम पान चबा-चबा कर मुँह रचाते रहे हो। अब यहाँ रह कर सारी नटविद्या सीखो, तब ही शादी करूँगा। जब तक इस विद्या में निष्णात नहीं हो जाते, तब तक विवाह की आशा न करना।

विषय की अभिलाषा कितनी जघन्य है ! ज्ञानी जन इसे धिक्कारते हैं और अज्ञानी अमृतमय समझते हैं।

कुमार बोला–मैं नटविद्या सीखने को तैयार हूँ।

इलायची कुमार नटों के दल में शामिल हो गया। लोगों ने बहुत--बहुत समझाया, मगर उसकी समझ में कुछ न आया। जब नटों का डेरा उठा तो कुमार ने रेशमी कोर की धोती तो फैंक दी और—

खांधे लीधा रे वांसड़ा, माथे लीधा रे ढोल।
आगे पाड़ा ने घेर तो, कौड़ी को हो गयो रे मोल॥
छोटी पहरीरे काछड़ी, कीधा नटवा को संग।
कला सीखे रे नट तणी, साथ लादी रे मांग॥

कुँअर ने घुटनों से ऊपर--ऊपर कमर में एक मोटा--सा कपड़ा लपेट लिया। कधे पर वांस रख लिया। सिर पर ढोल रक्खा। गधों और ऊँटों को हाँकता हुआ डेरे के साथ शहर से रवाना हुआ।

भाइयो! इस विडम्बना के मूल में क्या है? विषयपूर्त्ति के लिए ही कुमार ने असीम धन -सम्पत्ति त्यागी राजसी ऐश--आराम को ठुकराया, निराधार और प्रेममूर्त्ति माता--पिता को विलखता छोड़ा और जीवनसंगिनी पतिव्रता पत्नी के साथ विश्वासघात किया। विषयवासना मनुष्य का अंधा और मूढ़ न बनाती तो इलायची कुमार की आज यह दशा क्यों होती?

हजारों लोग यह तमाशा देखने के लिए रास्ते मे इधर--उधर खड़े हो गये। वे कहने लगे–देखो, क्या डौल बनाया है साहूकार के इस लाड़ले लड़के ने! कहाँ तो साहूकार का लड़का और कहाँ नट? चर्र-चर्र करने वाली इसकी चमकदार जूतियाँ कहाँ चली गईं?

मगर नट इलायची कुमार को इन आलोचनाओं की परवाह नहीं। वह अपनी धुन में मस्त चलता जा रहा है। उसने अपना एक ही लक्ष्य स्थिर कर लिया है-नटकला में कौशल प्राप्त करके नटकन्या को प्राप्त करना। वह उस दल के साथ ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि में घूम रहा है और नटविद्या सीख रहा है। कभी गिरता है, पड़ता है और कभी चढ़ता है मगर वह निराश नहीं है, हताश नहीं है। मनोयोगपूर्वक कला की साधना में संलग्न है। यही उसका लक्ष्य है।

बारह वर्ष व्यतीत हो चुके। फिर भी वह नटकला मे निपुण नहीं हो सका। तथापि नट-कन्या के मन मे अब यह भावना उत्पन्न हो गई कि मेरा विवाह हो जाना चाहिए। कुमार तो यह चाहता ही था। इस प्रकार दोनों की इच्छा होने पर भी परिस्थिति क्या खड़ी होती है ?

चलते-चलते नट दल एक बड़े शहर में पहुँचा। वस्ती से बाहर डेरा डाला गया। तत्पश्चात् नटराज ने इलायचीकुमार से कहा कुंवरजी, आज राजा के सामने खेल किया जाएगा और राजा प्रसन्न होकर जो इनाम देगा, उससे शादी कर दी जायगी। यह सुनकर कुंवर को प्रसन्नता हुई। उसने सोचा चलो बहुत दिनों की साध अब पूरी हो जायगी।

राजवाड़े में खेल आरंभ हुआ। हजारों लोग देखने आये। राजा भी झरोखे में बैठ कर खेल देखने लगा। इलायचीकुमार पैरो में सींग बांध कर और हाथ में बांस लेकर रस्सी पर अपना खेल दिखलाने लगा यद्यपि वह दर्शकों को मुग्ध करने के लिए खेल कर रहा था और आज के खेल पर उसकी चिरकालीन साधना की सफलता निर्भर थी, तथापि उसकी दृष्टि एक ही ओर निर्भर थी। वह

इधर-उधर नहीं देख रहा था। ऐसा करना अपने प्राणों को जोखिम में डालना था। जरा नजर चूकी और धड़ाम से नीचे जा गिरा। अतएव वह योगी की भाँति एकाग्रदृष्टि और एकाग्रचित्त हो कर अपने करतब दिखलाने लगा।

भाइयो ! जिनेन्द्र भगवान् महावीर का योग एकाग्रसाधना का योग है। साधक जब इस रस्सी पर चढ़ता है तो सब कुछ छोड़ कर चढ़ता है, निराधार होकर चढ़ता है।

इलायची कुमार भी मन और नयन को एकनिष्ठा के साथ बांस पर चढ़ा था और गहरी लगन के साथ खेल दिखला रहा था। वह सिर पर मटकी और मुँह में नंगी तलवार लिये रस्सी पर चल रहा है। हजारों दर्शक उसकी ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं और वह अपना कौशल प्रदर्शित कर रहा है। वह किसी को मानो नहीं देख रहा है। उसका समग्र ध्यान अपनी ही ओर है। दूसरी तरफ नजर गई नहीं कि चकनाचूर होते देर नहीं लगेगी। अगर सफलता के साथ अपना कौशल प्रदर्शित कर सका तो राजा से हजारों का पारितोषिक प्राप्त कर लेगा। मगर इस समय तो उसका मन कहीं नहीं जा रहा है। जैसे उसके तीनों योग पूरी तरह वशीभूत हो गये हैं।

साधु का भी यही मार्ग है। साधु भी अपने मस्तक पर पाँच महाव्रत रूपी मटका धारण करते है। भाषा समिति की तलवार उनके मुँह में रहती है। हाथ में रत्नत्रय-धर्म है। हजारों लोग उन्हें देखते हैं। मगर उनकी चित्तवृत्ति इधर-उधर नहीं भागती, बल्कि आत्माभिमुख ही होकर रहती है। जब चलते हैं तो ईर्या समिति पूर्वक ही चलते हैं। चलते समय छम-छम करती कोई स्त्री आ जाय और नजर चूक जाय तो साधुपन से पतित हो जाता है।

अगर जीत जाता है-सफलता पा लेता है तो मुक्ति रूपी पारितोषिक पा लेता है।

भाइयो ! साधुपन जयपुर का अजायबघर है। जैसे अजायब घर मे उत्तम से उत्तम सैकड़ों वस्तुएँ होती हैं, उसी प्रकार साधु के पास भी तपोजनित नाना प्रकार की अद्भुत और अनूठी सिद्धियाँ एवं ऋद्धियाँ होती हैं।

हाँ, तो इलायची कुमार रस्सी पर इधर से उधर फिरता है और अपनी जान लड़ा देता है। मगर राजा न तो अपनी प्रसन्नता प्रकट करता है और न पारितोषिक की ही घोषणा करता है। आम तौर पर इतनी देर तक खेल नहीं दिखलाया जाता था, मगर आज वह बड़ी योग्यता के साथ खेल रहा है। फिर भी उसे राजा की ओर से सराहना नहीं मिल रही है ! मन मे निराशा बढ़ रही है, किन्तु उसका उत्साह कम नही हो रहा है।

बात रहस्यमयी बन गई थी। इलायची कुमार जब अपना कौशल प्रकट कर रहा था, उसी समय राजा की दृष्टि अचानक उसी नट कन्या पर जा टिकी। उसके अद्भुत रूप-लावण्य ने राजा पर जैसे जादू कर दिया। राजा ने पूछ ताछ की तो पता चला कि अभी वह अनब्याही है और इलायची कुमार के साथ आज ही उसका विवाह होने जा रहा है। कुमार सेठ का लड़का है और नटिनी को पाने के लिए ही नट बन गया है।

राजा का मन ईर्षा से पूर्ण हो गया। उसने सोचा-अगर इनाम देने में विलम्ब किया जायगा तो सेठ का लड़का घबरा जायगा और घबराहट पैदा होते ही चित्त चंचल हो उठेगा और चित्त का चंचल होना ही उसके नीचे गिरने का कारण बन जाएगा।

कदाचित् यह गिर कर मर गया तो नटकन्या अनायास ही मुझे प्राप्त हो सकेगी।

मगर आज असाधारण विलम्ब हो रहा था। नटकन्या भी उस विलम्ब को देख कर दहल उठी। उसने इलायची कुमार को ढाढस बँधाते हुए कहा—

बहुत गई थोड़ी रही।

नटराज भी बेचैन होकर ढोल बजा रहा था। वह भी चाहता था कि यह खेल समाप्त हो जाना चाहिए। किन्तु राजा के मन में जो दुष्ट अध्यवसाय, जो विष उत्पन्न हो गया था, उसने नटदल के प्रति कठोर भाव पैदा कर दिया।

उसी समय एक नवीन घटना घटी। दूसरा रास्ता बंद होने के कारण एक मुनिराज इधर से आहार लेने निकले और एक हवेली में चले गये। उस हवेली की एक नवयुवती भी खेल देख रही थी। मुनिराज को देखते ही वह खेल देखना छोड़ कर उठ खड़ी हुई और अपने घर की ओर चली गई।

खेल का मोह कम नहीं होता। फिर कभी-कभी होने वाले खेल में अधिक आकर्षण होता है। फिर भी उस बाई की भावना कितनी उत्तम थी! मुनिराज को देखते ही उसने खेल का मोह छोड़ दिया। आज सिनेमा देखने वाले तो यहाँ पाँव भी नहीं रखते।

इलायची कुमार का भवितव्य कुछ और ही था। यद्यपि वह एकाग्र दृष्टि से खेल कर रहा था और विवाह की राह देख रहा था, फिर भी उसकी दृष्टि अचानक मुनिराज की ओर चली गई। मन में विचार उठा—इतनी सुन्दरी नवयुवती है, मगर मुनि उसकी

ओर आँख उठा कर भी नहीं देख रहे हैं ! कहाँ इनका जीवन और कहाँ मेरा जीवन ? मैंने नटकन्या को प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष व्यतीत कर दिये। बारह वर्ष ! कितना लम्बा समय है। यही समय यदि इन महात्मा की तरह योगसाधना में लगाया होता तो मैं सिद्ध हो गया होता। खेद, मैं इस नटिनी के पीछे पागल बना फिरता रहा। घर--बार छोड़ा पतिव्रता पत्नी के आंसुओं की परवाह नहीं की। माता की ममता का ठोकर लगाई, पिता के अनुरोध की परवाह नहीं की। लोगों का धिक्कार सहन किया। प्रतिष्ठा को तिलांजलि दी। अपार सम्पत्ति का मोह त्यागा। क्या-क्या नहीं किया ? अहा, इन बारह वर्षों में तपस्या की होती तो आत्मा का कल्याण हो जाता। धिक्कार है विषयवासना से अंधी बनी हुई मेरी आत्मा को। मैं चढने के बदले पड़ता ही चला गया किस उन्माद के वशीभूत हो गया ? किस झगड़े में फँस गया ? नटकन्या प्राप्त भी हो गई तो उससे आत्मा का क्या कल्याण होने वाला है ?

इस प्रकार विचार करते-करते इलायची कुमार की भावना बदल गई। परिणामों की धारा ऊँची चढ़ी और उसी समय उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई।

अवधिज्ञान प्राप्त होते ही जैसे कुमार की आँखों पर पड़ा पर्दा हट गया। उसे नयी दुनिया दिखाई देने लगी। वह जान गया कि राजा भी इस नट कन्या पर मुग्ध है और इसे अपनी प्रियतमा बनाना चाहता है। इधर मैं इसके लिए बारह वर्षों से मारा-मारा फिरता हूँ। धिक्कार है इन विषयों को ! धिक्कार है इस स्वार्थमयी संसार को।

इलायची कुमार की भावना आत्माभिमुखी हुई और एकदम बहुत उच्च कोटि पर जा पहुँची। अपूर्व परिणाम धारा में

बहते-बहते कुमार ने मोहनीय कर्म का समूल क्षय कर डाला और मोहनीय कर्म के क्षीण होते ही अन्तर्मुहूर्त्त में ही उसे केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। इलायचीकुमार अब जीवन्मुक्त अवस्था में जा पहुंचे। वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो गये। पूर्ण वीतराग दशा प्राप्त करने में समर्थ हुए। उनकी आत्मा के समस्त कलुष धुल गये।

जब इलायची कुमार रस्सी से नीचे उतरे तो राजा भी महल के छज्जे से उतर कर वहाँ आ पहुँचा। उसने इलायची कुमार केवली को देवताओं द्वारा प्रदत्त साधुवेष में देखकर कहा—खेल कर रहे हो या क्या कर रहे हो? अभी इनाम देना बाकी है। खेल तुम्हारा बड़ा सुन्दर और मनोरंजक रहा।

इलायची कुमार बोले—निस्सन्देह मेरा यह खेल अपूर्व और असाधारण सिद्ध हुआ। यह खेल खेल कर मैंने वह सब पा लिया जो पाने योग्य था। मैं कृतार्थ हुआ।

राजा चकित होकर सुन रहा था और कुछ नहीं समझ रहा था। तब उसने पूछा—क्या पा लिया है? अभी पाना तो शेष ही रह गया है।

इलायची कुमार—मैंने जो प्राप्त किया है, वह आपके खजाने मे भी नहीं है। वह तीनों लोकों की समग्र भौतिक सम्पत्ति से भी बढ़कर है। राजन्! किस विचार में पड़े हो? मैंने इस नटिनी के साथ बारह वर्ष व्यतीत कर दिये, किन्तु आज एक महात्मा मुनिराज को देख कर मुझे बोध प्राप्त हुआ और केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

इलायची कुमार का यह वृत्तान्त जान कर नटकन्या भी संसार से विरक्त हो गई। उसने साध्वीदीक्षा अंगीकार कर ली।

इस घटना ने राजा के मोह को भी भंग कर दिया। वह भी मानो सोकर जाग उठा। उसने भी संसार का परित्याग कर दिया। इस प्रकार ५० मनुष्य प्रतिबोध पाकर धर्म की शरण में पहुँचे, अर्थात् साधु हो गये।

विषयवासना किस प्रकार मनुष्य के विवेक को सुप्त कर देती है, यह बात इस उदाहरण से भलीभाँति समझ में आ जाएगी। इलायची कुमार तो पूर्वभव में तपस्या करके आए थे। फिर भी विषयाशा के अधीन हो गये। जो लोग वैसी तपस्या करके नहीं आये हैं, उनका क्या हाल होगा? वास्तव में विषयवासना घोर दुर्दशा का कारण है। ऐसा समझ कर इसका परित्याग कर देना ही हितकर है। यही भगवान् का उपदेश है। जो इस उपदेश का अनुसरण करेंगे, वे आनन्द ही आनन्द के भागी होंगे!

ब्यावर (अजमेर) }
१४-१०-४७ }



असली लड़ाई

स्तुतिः—

मन्दार-सुन्दर-नमेरु-सुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्द मरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

महाप्रभो! जब आपका समवसरण लगता था, तब देववृन्द भक्तिभाव से प्रेरित होकर उसमें पुष्पों की वर्षा करते थे। वे फूल अतीव सुन्दर और सुगन्धित तथा पंचवर्णी होते थे। मंदार

सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात, और सन्तानक नामक कल्पवृक्षों के वे फूल अचित्त होते थे। जैसे फूल खिले हुए थे, उसी प्रकार भगवान् की दिव्य ध्वनि भी खिलती थी। जो जो प्राणी उस वाणी को श्रवण करने आते थे, वे आनन्द विभोर हो जाते थे और अपना कल्याण करते थे।

ऐसे महाप्रभु भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को मेरा वार-वार नमस्कार हो।

सज्जनो! जैसे देवों द्वारा बरसाए हुए फूल पाँच वर्ण के होते हैं—काले, नीले, पीले, हरित और श्वेत; इसी प्रकार व्याख्यान मे आने वाले लोग भी पाँच प्रकार की भावना वाले होते हैं। कोई-कोई काले फूल के समान मलीन भावना वाले हुआ करते हैं। वे मन में कपट भाव रखते हैं, फिर भी ऊपर से बगुलाभक्त बने रहते हैं। ऐसे लोग भी व्याख्यान सुनने को तो आते हैं, मगर जब व्याख्यान समाप्त होता है और रास्ते में जाते समय कोई पूछता है—व्याख्यान कैसा था? वे उस समय मन का सारा मैल निकाल कर कहते हैं—'काहे का व्याख्यान दिया! कुछ भी तो नहीं। वही पुराना ढर्रा है। यह त्यागो, वह त्यागो! शील पालो। सन्तोष रक्खो, आदि। कोई नयी बात नहीं। नयी रोशनी के दर्शन तक नहीं।' इस प्रकार कह कर वे काले फूल की तरह अपनी कलुषित भावना प्रदर्शित कर देते हैं। जो लोग काले फूल के समान होंगे, उनके ऊपर वीतराग देव की वाणी का रंग कभी नहीं चढ़ सकता। इसी से कहा है—

तजो रे मन! हरि विमुखन को संग।
सूरदास प्रभु कारी कमरिया, चढ़े न दूजो रंग॥

भक्त सूरदास कहते है—काली कँबली के ऊपर कोई भी रंग नहीं चढ़ सकता।

ऐसे कलुषित हृदय मनुष्य को साक्षात् ब्रह्मा आकर समझावे तो भी वह नहीं समझ सकता।

फूले फले न बेत, यद्यपि सुधा बरसे सरस।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिले विरंचि सम॥

कैसा भी ज्ञानी क्यों न आ जाय, मूर्ख का दिमाग पलट नहीं सकता। ऐसे लोग काले फूल के समान अन्तःकरण वाले हैं।

कोई-कोई मनुष्य हरे रग के फूल के समान होते हैं। ऐसे मनुष्यों के हृदय में कपट नहीं हो ा। जिसके हृदय में कपट है, वह हरे रंग का फूल नहीं है।

जो मनुष्य सरल हृदय वाले होते हैं, वे लाल रंग के फूल के सदृश हैं।

जो जीव पीले वर्ण के फूल की तरह होते हैं, वे धर्म में पक्के होते हैं। और जो श्वेत रंग के सुमनों के समान होते हैं, उनका तो कहना ही क्या है!

इस प्रकार पाँच वर्ण है और पाँच ही प्रकार की भावना वाले मनुष्य भी होते हैं। आप अपने हृदय पर हाथ रखकर टटोलें कि आप कौन-से रग के है? और यह भी देखें कि लाल गुलाब हैं या धतुरे के फूल हैं। जो धर्म में अनुरक्त हैं, वही गुलाब के फूल के सदृश है।

बहिनो और भाइयो! धर्म का गहरा लाल रंग चढ़ना बहुत कठिन है। गहरा रग चढ़ा था मीरा बाई को। उनके हृदय पर मजा-

ठिया रंग चढ़ा था। वह क्या कभी उतर सकता था ? नहीं, कदापि नहीं। परन्तु असली लाल रंग चढ़ेगा तो बढ़िया मलमल पर ही चढ़ेगा। उत्तम मलमल केसरिया रंग में डालते ही सुन्दर रंगी हुई दिखने लगती है; उसी प्रकार स्वच्छ हृदय वाले पर धर्म का सुन्दर रंग चढ़ता है। जो मलमल के समान प्राणी हैं, उन पर वीतराग देव की वाणी रूप केसरिया रंग तत्काल ही चढ़ जाता है। किन्तु जैसे मलीन वस्त्र पर वह रंग नहीं चढ़ता, उसी प्रकार मलीनचित्त मनुष्य का मन भी धर्म के रंग में नहीं रँगता। बड़ा मुश्किल हो जाता है उनके चित्त पर धर्म का रंग चढ़ना। इस रंग में रंगने के लिए पुण्य की आवश्यकता होती है।

किस पर धर्म का पक्का रंग चढ़ा है और किस पर नहीं, यह निर्णय समय पर परीक्षा होने पर ही निश्चित होता है। परीक्षा की कसौटी पर पता चल जाता है कि यह वास्तव में असल रँगा हुआ था या कोरा भभका ही था। उदाहरणार्थ—एक ओर व्यापार धनाधन चल रहा हो और दूसरी ओर धर्मोपदेश हो रहा हो या धर्मक्रिया करने का समय हो। तो असली रंग जिस पर चढ़ा होगा, वह हजारों के लाभ को भी लात मार कर अपने नित्यनियम का पालन करेगा। यदि नकली रंग होगा तो लोभ में फँस कर नियम को ठुकरा देगा।

देखो, नकली रंग से कुछ काम नहीं चलता। रंग तो ऐसा चढ़ना चाहिए कि चौंसठ इन्द्र मिल कर धर्म से विचलित करने आवें, तो भी एक इंच भी अपने पथ से पीछे पैर न रक्खे। तो समझो कि वह रंग पक्का चढ़ा है।

धर्म का रंग ब्यावर में चढ़ा था तो सेठ कालूरामजी कोठारी और सेठ कुन्दनमलजी कोठारी पर। सेठ कालूरामजी

धर्मध्यान करते हुए, किसी को तनिक भी तकलीफ़ न देकर पूज्य खूबचंदजी महाराज के सामने ही संसार से चल बसे।

एक बार उदयपुर में हमारा चौमासा था। सेठ कुन्दनमलजी संघ के साथ दर्शन करने आये। दर्शन करके ब्यावर लौट आये। किन्तु मन में विचार आया कि मैं गुरुदेव के दर्शन तो कर आया किन्तु परोपकार का कोई कार्य नहीं किया। तब उन्होंने उदयपुर पत्र लिखा कि आपके उपदेश से प्रेरित होकर तीन हजार रुपये आगरा के जैन अनाथालय को भेजरहा हूँ। पत्र आया तो पूज्य मन्ना-लालजी महाराज ने मुझे फर्माया—रतलाम में भाइयों और बहिनों को धर्म क्रिया करने के लिए कोई एक स्थान की और आवश्यकता है। अगर यह रकम स्वधर्मीहितार्थ लगाई जाय तो वह भी परोप-कार ही है।

इस आशय का पत्र सेठजी को लिखा गया। उसके उत्तर में सेठजी ने लिखा—ठीक है, तीन हजार अनाथालय को और तीन हजार रतलाम में धार्मिक भवन के लिए भेजता हूँ। पर जब बना बनाया मकान खोजा गया तो उसकी कीमत पाँच हजार हुई। सेठजी ने निःसकोच लिख दिया—मकान जितने में आता हो, खरीद लिया जाय और रजिष्ट्री करा ली जाय। मकान खरीद लिया गया। आज उस मकान में बहिनें धर्मध्यान करती हैं और जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति का कार्यालय है।

ऐसी थी सेठ कुन्दनमलजी कोठारी की उदारता। वे हिच-किचाये नहीं। जानते थे कि कर लिया सो काम और भज लिया सो राम!

यह मनुष्य जन्म रूपी गंगा बह रही है। इसमें जो हाथ धोना चाहे, धो ले। जो वंचित रह जायगा करनी करने से, वह

हाथ मलता हुआ ही जन्म--जन्मान्तर में भटकता फिरेगा। इस--लिए जो भी अनुकूल अवसर मिला है, उसे नष्ट मत करो और धर्म साधना करके सफल बना लो।

समय समय का फेर है, समय समय की बात।
किसी समय में दिन बड़ा, किसी समय में रात॥

भगवान् फर्माते हैं—अरे प्राणियों! जरा विचार करो।

आप कहेंगे—महाराज; क्या विचार करें?

भगवान् की ओर से मै कहूँगा—भाई, आत्मा में यह विचार करो कि मैं खूब युद्ध करूँ। खूब लड़ूँ। ऐसा लड़ूँ कि घमासान मचा दूं। उथल पुथल मच जाय मेरे शत्रुओं के शिविर में।

मगर ऐ लड़वैया, पहले यह समझ ले कि वास्तव में तेरा शत्रु कौन है?

भगवान् फर्माते हैं:—

इमेणं चेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ?
जुद्धारिहं खलु दुल्लहं।

ये विश्ववंद्य भगवान् महावीर के मुखारविन्द से निकले हुए शब्द हैं। वे कहते हैं-ऐ शूरवीरों! लड़ो और खूब लड़ो मगर लड़ना किससे है? नाहर से या मनुष्य से लड़ना कोई लड़ना नहीं है। लड़ना मनुष्य शरीर से है। तेरी आत्मा विलास में डूब गई है और धर्म की ओर से विमुख हो गई है, अतएव इससे लड़ो।

अपनी कुवासनाओं से लड़ो, दुर्वृत्तियों से लड़ो, कुसंस्कारों से लड़ो, विकारों से लड़ो, बुराइयों से लड़ो और बुरे विचारों से लड़ो।

हे प्राणी! यह शरीर दगाबाज, बेईमान और चोर है। यदि इसकी नौकरी में ही रह गया तो सारा जन्म बिगड़ जाएगा। अतएव इससे लड़ने की जरूरत है। दूसरे से लड़ने में कोई लाभ नहीं। खुद से ही लड़ो। मान लो, घर में बाप और बेटा हैं। बेटा अगर झूठ बोल देता है तो बाप उससे लड़ने लगता है कि तू झूठ क्यों बोला? मगर वह स्वयं झूठ बोलता है सो अपने से नहीं लड़ता। इस प्रकार जब कोई दूसरा नुकसान कर देता है तो मनुष्य उससे लड़ने को आमादा हो जाता और लड़ने भी लगता है, किंतु जब आप ही अपना नुकसान करता है तो अपने आपसे कुछ नहीं कहता। यह कहाँ का न्याय है?

लेकिन दूसरों से लड़ने में कोई सार निकलने वाला नहीं है। ऐसी लड़ाई करते-करते अनन्त काल व्यतीत हो गया। कितने ही जन्म-मरण कर लिये। मगर इससे लाभ तो कुछ हुआ नहीं, उलटी हानि ही हानि हुई। आत्मा पर अधिकाधिक कलुष की कालिमा चढ़ती चली गई और वह पाप के भार से बोझिल होती चली गई।

भाइयो! यह शरीर युद्ध करने के लिए ही मिला है और बार-बार मिलना कठिन है। दुर्लभ है मनुष्य के शरीर की प्राप्ति होना और मनुष्य शरीर के सिवाय दूसरे शरीर से कल्याण होना असंभव है।

मनुष्य का शरीर औदारिक शरीर कहलाता है। उदार अर्थात् प्रधान पुद्गलों से बना शरीर औदारिक शरीर। मगर यह

प्रधान तभी समझा जाएगा जब इससे प्राणी धर्म करे और कर्मों का विनाश करे। इसी शरीर से जीव केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाता है। आठ कर्मों को नष्ट करने में यही शरीर कारण बनता है। दुनिया में लड़ने के लिए हजारों हथियार हैं, किन्तु कर्मों की बेड़ी काटने के लिए सबसे बड़ा शस्त्र यही शरीर है। मानव शरीर ही पाप की बेड़ियाँ काटने में समर्थ होता है।

भगवान् ने कितने मार्के की बात कही है। इसे ध्यान में लाओ और मनन करो। आपको कर्म काटने का शुभ अवसर मिला है। मनुष्य शरीर इसीलिए मिला है कि कर्मों को काट दो, नष्ट कर दो। मगर तुम्हारा ध्यान तो बाहर की ही ओर रहता है। जैसे बाहर के पदार्थों को इष्ट मानते हो वैसे ही किसी-किसी को अनिष्ट मानते हो। दूसरे को ही मित्र और दूसरे को ही शत्रु समझते हो। यही समस्त बुराइयों की जड़ है। इससे दूसरी हजारों बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। भगवान महावीर का स्पष्ट फर्माना है कि यह बहिर्दृष्टि दुःखों का कारण और भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः तुम स्वयं ही अपने मित्र हो और स्वयं ही अपने शत्रु हो। तुम्हारा हित और अहित, सुख और दुःख तुम्हारे ही हाथ में है। दूसरा न तुम्हारा कुछ बिगाड़ सकता है और न सुधार सकता है। फिर भी तुम अपने सुख-दुःख के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराते हो। इससे आत्मा में राग और द्वेष की जागृति होती है। राग द्वेष की परिणति से आत्मा अनेक प्रकार से कलुषित बनती हैं।

तुमने जिसे अपने सुख का साधन समझ लिया, उस पर लट्टू हो गये और राग करने लगे। जो दुःख का कारण समझ में आया, उस पर द्वेष भाव धारण कर लिया। फिर राग और द्वेष के कारण अनेक प्रकार की कार्रवाइयाँ चालू हो जाती और मूल

पर भूल होती ही चली जाती है। मगर यह भूल है भाइयो ! भगवान् के वचनों को समझो, बूझो और बाह्य पदार्थों को निमित्त मात्र मान कर उन पर समभाव धारण करो। निश्चय समझ लो कि आपको जो भी दुःख प्राप्त होता है, वह आपका ही उपार्जन किया हुआ है। इसी प्रकार अगर आपको किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है तो उसके असली कारण भी आप ही है।

आपके भीतर घुसी हुई बुराइयाँ आपके लिए दुःखों का निर्माण करती हैं। इसके विरुद्ध, आपकी सत्प्रवृत्तियाँ, आपके प्रशस्त विचार और व्यवहार आपके लिए सुख की सृष्टि करते है।

भूल जाओ इस भ्रम को कि किसी दूसरे ने तुम्हे कष्ट दिया है। तुम्हें दूसरा जो कष्टदाता प्रतीत होता है, वह तो तुम्हारे द्वारा कृत कर्मों से प्रेरित निमित्त है। उसका कोई अपराध नहीं। अपराध उसका है जिसने कर्म उपार्जन किये हैं। और वह तुम्हीं हो।

इस प्रकार का सही दृष्टिकोण अपनाओगे तो तुम्हें इसी जीवन में, तत्काल, शान्ति की अनुभूति होने लगेगी। अन्तःकरण में समभाव उत्पन्न होगा। राग-द्वेष रूप विकारों से छुटकारा मिल जाएगा। साथ ही दुष्कृतों—अशुभ कर्मों से दूर रहने की प्रेरणा मिलेगी। इस प्रकार आप कर्मों की बेड़ी काटने में समर्थ हो सकेंगे। अतएव जम्बू कुमार की तरह कर्मों के बंधनों को नष्ट करने के लिए सन्नद्ध हो जाओ और भगवान् के मार्ग पर चल पड़ो।

जम्बू कुमार जब साधु-धर्म की आराधना के लिए गृह-त्याग करके जाने लगे तो उनके माता-पिता ने रास्ता रोक कर कहा—बेटा, प्यारे पुत्र; तुझे क्या हम बूढ़े माँ-बाप पर भी दया नहीं आती ? तू हमें निराधार छोड़ कर जा रहा है। तू हमारा इकलौता पुत्र है।

जीवन का एक मात्र सहारा है और तू ही हमारी आँखों का एक मात्र तारा है। बेटा, हमारे बुढ़ापे को मत बिगाड़। इसकी लाज रखनी है तो मत जा।

जम्बू कुमार प्रत्युत्तर में कहते हैं—

एक लोटियो पाणी पियो जी में माय ने बाप अनेक
सगला जीवां की दया पालसूं माता, मन में आण विवेक।
माता ए मारो सांभलो,
जननी लेसूं संयम भार॥

'हे माता-पिता! आप कहते हैं कि हम पर दया करो, दया करो। लेकिन जब से एक लोटा पानी पीता हूँ तो उसमें असख्य जीव होते हैं और उनके साथ अनन्त-अनन्त बार मेरा माता-पिता का नाता हो चुका है। यह जीव इसी जन्म में कोई नया उत्पन्न नहीं हुआ है। अनादिकाल से जन्म-मरण करता आ रहा है। अतएव इसके अनन्त माता-पिता हैं। तथ्य यह है कि इस जीव ने संसार के समस्त प्राणियों के साथ सभी प्रकार के संबंध अनन्त बार स्थापित किये हैं। भाई, बहिन, माता, पिता, पुत्र, पौत्र, आदि न बन चुका हो, ऐसा कोई जीव यहाँ नहीं है।'

जम्बू कुमार फिर कहते हैं-'मैंने श्रीसुधर्मा स्वामी की वाणी सुनी है। मेरे चित्त में समभाव जगा है। अतएव मैं दया तो अवश्य करूँगा किन्तु संसार के समस्त जीवों पर करूँगा। आप स्वयं सोचिए कि मुझे सब की दया करनी चाहिए या सिर्फ आप दोनों की? माता-पिता! मैं आप दो की ही दया पालूँगा तो मेरे अनंत पूर्व भवों के माता-पिता, पुत्र-पौत्र आदि की अदया हो जाएगी।

वे इस जन्म के नहीं, पूर्व जन्म के नातेदार हैं, इसी से क्या दया करने योग्य नहीं हैं ?'

भाइयो ! यह शरीर मस्ती करने के लिए नहीं मिला है। विचार करो, किधर जा रहे हो ? सही राह पर आओ।

मनुष्य का जन्म अमोलक पाय,
अरे चातुर ! मत एल गंवाय।
हाथ से बाजी तेरी जाय,
गुण गाणा हों तो अब गाय ॥
वक्त अमोलक पाय के, मत रहे मित्र अचेत।
गफलत में क्यों रात-दिन, काल झपट्टा देत ॥
मोह की नींद निवार निवार,
सुगुरु-संग धार धार रे धार ॥

हे प्राणी ! यह मनुष्यजन्म अनमोल है। कोई राजा करोड़ो, अरबों की सम्पत्ति या अपना सारा राज्य ही क्यों न दे दे मनुष्यजन्म पाने के लिए, फिर भी क्या वह किसी भी कीमत पर इसे प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं। अमेरिका, जर्मनी, रूस और ब्रिटेन से भी पार्सल नहीं आने को। भोले भाई ! मनुष्य जन्म बड़ा ही दुर्लभ है और बहुत बड़े पुण्य के प्रभाव से मिलता है। तू चतुर है, हजारों लाखों का व्यापार करता है, और आना-पाई का लेखा करता है, लेकिन मनुष्यजन्म को वृथा ही हार रहा है। यहाँ तेरी चतुराई कहाँ चली जाती है ? देख, यह जीती हुई बाजी तेरे हाथों से जा रही है। मनुष्य जन्म पाकर जिनेन्द्र के गुण गाने हों तो गा ले। धर्म कर ले, पुण्य कर ले। मनुष्य जन्म पाकर ऐ मित्र ! तू अचेत

मत रह। गफलत में मत रह। जरा होश-हवास में आ जा। काल झपट्टा लगा रहा है। मौत मस्तक पर मँडरा रही है। आज इसे, कल उसे ले जा रही है। आज उसके घर रुलाई हो रही है तो कल किसी दूसरे के घर उठावना हो रहा है। औरों को देर हो सकती है लेकिन इस मौत को देर नहीं लगती।

अरे अज्ञानी ! मोह की नींद भंग कर और पुरुषार्थ कर लड़ाई करके विजय प्राप्त कर। हे मानव ! यह बाजी जीत लेने का समय है। हार गया तो सारा काम बिगड़ जाएगा। फिर अवसर हाथ आना कठिन है। याद रखना, इस मनुष्य शरीर के द्वारा ही आठ कर्म-शत्रुओं को जीता जा सकता है। यह कुरुक्षेत्र है और इस शरीर में आठ कर्म कौरव हैं। आत्मा पाण्डव है। इन्हे जीतने में ही तेरा कल्याण है।

जीत जीत रे जीत वीरवर ! इन कर्मों को जीत।
कर्मो से सब ही हारे हैं, यह टरे नहीं कोई टारे हैं।
बड़े-बड़े छत्तरधारी को, इनने किया फजीत ॥ १ ॥

इन जबर्दस्त दुश्मनों से लड़ाई करे तो बीच में जरा सी भी बुजदिली मत लाना। घबराना मत और एक इंच भी पिछे कदम मत रखना। कर्मों को काटता चला जाना और इन पर दया मत करना। इन पर दया करेगा तो ये कौरव नहीं मरेंगे। लड़ाई खत्म नहीं होगी। अगर जीत गया तो वह हस्तिनापुर का राज्य मिलेगा जो कभी हाथ से जाने वाला नहीं है। कदाचित मात खा गया तो याद रखना, बड़ी दुर्दशा होगी। नरक म चला जायगा, पशु हो जायगा, कीड़ा-मकोड़ा बन जायगा या पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा अथवा वनस्पति के रूप में दिन बिताएगा। चौरासी में भट-

कता फिरेगा। और यदि पीठ दिखाकर भाग गया तो भी क्या होगा ?

भागा भला न वाजसो, पूठे पडसी घाव।
जागिरिया तो मना हुवे, धणी न कहवे आव॥

रणक्षेत्र से भागने वाले की पीठ में घाव लगते है। पहले जमाने मे कोई राजपूत पीठ पर तलवार खाकर आ जाते तो असल राजपूतनी-उसकी अवज्ञा करती हुई कहती थी कि--मुझे विधवा होना कबूल है, लेकिन तुम्हारे जैसे पति को दरकार नहीं। वह घर में घुसने देने के लिए द्वार तक नहीं खोलती थी।

इस प्रकार इस आध्यात्मिक युद्ध में जो पीठ दिखा कर भागेगा, वह अपने घर में--मुक्तिधाम में, स्थान नहीं पा सकेगा।

सब टल सकते हैं, लेकिन कर्म टलने वाले नहीं हैं। बड़े--बड़े छत्रधारी, राजा, राणा और बादशाह हुए और इन कर्मों ने सब का फजीता कर डाला। छह खंडों के नाथ को भी लेजाकर नरक के अंधकारमय कारागार में डाल दिया। हारने पर सभी काम बिगड़ गये। इन कर्मों का मूल क्या है ?

जो राग-द्वेष मिटाता है, वह वीतराग बन जाता है।
कहे उन्हें जिनराज जिन्हों का, सब जग गावे गीत॥

कर्मों का मूल राग--द्वेष है। जिसने राग और द्वेष को नष्ट कर दिया; उसने कर्मों के मूल को नष्ट कर दिया। कर्म जब निर्मूल हो जाते हैं तो मनुष्य विजयी होकर जिनराज की प्रशस्त पदवी प्राप्त करता है। तीनों लोक उसके गुण गाते हैं। जो इस

पदवी पर पहुँचे, आज हजारों, लाखों और करोड़ों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सारा जगत् उनके गुण गा रहा है। इसके विपरीत, जो लड़ाई में हार गये, उनकी गति कहीं की न रही।

इन कर्मों को मारने वाले तीर्थंकर भगवान् महावीर ने क्या किया, जरा सुनियेः—

सब कठिन परीषह सहन किये,
नहीं वीर ने पीछे पाँव दिये।
आर्य अनार्य देश में विचरे,
सही धूप अरु सीत ॥

कर्म--शत्रुओं को सदा के लिए परास्त करना साधारण बात नहीं है। भगवान् महावीर जैसे परमोत्कृष्ट पुण्यशील महापुरुष को भी घोर परीषह सहन करने पड़े। किन्तु भगवान् ने कभी मन से भी एक कदम पीछे हटने का विचार नहीं किया। एक--एक रात में ही कितने भयंकर उपसर्ग सहने पड़े! धन्य हैं ऐसे वीर!

बुद्ध देव चालीस दिन भूखे रहे तो बेहोश होकर गिर पड़े। कह दिया -भूखे रहने में क्या रक्खा है? उधर महावीर ने छह माह तक अन्न--पानी ग्रहण नहीं किया। वे आर्य देशों में भी विचरे और अनार्य देशों में भी विचरे, ध्यान लगा कर बैठते हैं तो छोकरे बाल खींच कर चले जाते हैं। किन्तु भगवान् ध्यान में ही लीन रहते हैं। इधर--उधर जाते तो अनार्य जन छुछकार कर कुत्ते उनके पीछे लगा देते। भगवान् उन्हे हटाने का प्रयास तक न करते। राह चलते कोई--कोई उन पर धूल उछालते मगर भगवान् के मुख-मंडल पर उस समय भी दिव्य समभाव अठखेलियां करता रहता। कोई-कोई उन्हे चोर समझ कर भगाता और कितने ही लोग वस्ती

में भी न आने देते। अनार्य देश में जाकर भगवान् ने घोर से घोर कष्ट सहन किये। आर्य देश में भी कम कष्ट नहीं उठाये। यह कष्ट-कथा बड़ी लम्बी है और उसे सुनते-सुनाते रोमांच हो आता है।

परन्तु प्रश्न यह है कि उन्हें ऐसे कष्ट सहन करने की आवश्यकता क्या थी? राजकुमार थे। राजमहल में रहते और सुखपूर्वक जिंदगी व्यतीत करते। उन्हें संसार का कौन सुख प्राप्त नहीं था? परन्तु भगवान् क्षुद्रदृष्टि नहीं, दीर्घदर्शी थे। वे क्षणिक वर्त्तमान से संतुष्ट होकर अनन्त भविष्य को कैसे भूल सकते थे? उन्होंने अनन्त मंगल का, शाश्वत और अनाबाध सुख का ही विचार किया और उसके लिए वर्त्तमानकालीन अल्प सुख का उत्सर्ग कर दिया।

बुद्धिमान वही गिना जाता जो आगे का विचार करके कार्य करता है। आप लोग भी भविष्य की सोचकर संसार व्यवहार चलाते हैं। पर आपका भविष्य भी बहुत संकीर्ण है। आप इस जीवन के संबंध में ही सोचते हैं, उससे आगे की नहीं। जैसे आप समझते हैं कि इस जीवन के पश्चात् फिर कोई जीवन होगा ही नहीं। जीवन के अन्त के साथ आत्मा का भी अन्त आ जायगा। कभी आगे का विचार किया भी तो बाल-बच्चों के भविष्य का विचार किया, पर आत्मा के पर भव के विषय में सोचने वाले कितने हैं? यह कितना विचारणीय विषय है?

तो भगवान् महावीर ने भविष्य का विचार करके वर्त्तमान में समभाव के साथ कष्ट सहन किये। कर्मों को काटने के लिए इसी मार्ग का अनुसरण किया जाता है। भगवान् ने कर्म रूपी चनों को भूंगड़ा बना कर ही छोड़ा कि फिर कभी उगने ही न पावें। कर्मों का ऐसा समूल एवं आत्यन्तिक विनाश किया कि फिर कभी जन्म-मरण ही न करना पड़े।

कर्मों को काटना सरल काम नहीं है। यह बहुत कठिन कार्य है। मगर जो इसमें सफलता पा लेते हैं, सदा के लिए आधियों, व्याधियों और उपाधियों से छुटकारा पाकर त्रिजगत्पूज्य बन जाते हैं। जो डगमगा गये, उनका सब काम बिगड़ गया।

डगमग नहीं करना, नहीं करना,
प्रभुजी के मारग चलना।

भाइयो ! कर्मों को नष्ट करने के लिए उद्यत होकर फिर विचलित मत हो ओ। जरा-सा परीषह आया कि सोचने लगे–करूँ या न करूँ ? संयम पालूँ या न पालूँ ? इस प्रकार की मानसिक दुर्बलता से किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य में सफलता नहीं मिल सकती सफलता के लिए दृढ़ मनोबल चाहिए, साहस चाहिए, धैर्य चाहिए। आगे ही आगे बढ़ते चलने का हौसला चाहिए।

एक श्रावक ने अभिग्रह किया कि जब तक कमरे में दीपक जलता रहेगा, तब तक खड़ा ही रहूँगा। वह समायिक करके खड़ा हो गया। एक-दो घटे बीते तो उनका नौकर उधर जा निकला। उसने देखा कि सेठजी सामायिक में खड़े हैं और दीपक बुझ गया तो ठीक न होगा। अतएव वह वहीं सोया और दीपक में तेल डालता रहा। इस प्रकार सारी रात बीत गई। सवेरा होने पर दीपक बुझा और तभी श्रावक अपने स्थान से हटा।

कितनी दृढ़ता ! जब ऐसे धर्मनिष्ठ श्रावक और साधु होते हैं, तभी धर्म चमकता है। वे प्राण चले जाने पर भी अपने व्रत-नियम से पीछे नहीं हटते।

सामान्य लोग समझते हैं कि लड़ाई के लिए हथियार आवश्यक हैं। हथियारों के अभाव में लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती।

आम तौर पर संसार में यही होता है। दुनिया इसी धारणा पर चल रही है, यही कारण है कि हथियारों का इतिहास पूर्व काल से प्रचलन रहा है। पहले लोग पत्थरों को हथियारों के रूप में प्रयुक्त करते थे। धीरे-धीरे उनमें भी विकास होता गया। लोहे आदि के हथियार बनने लगे। उनमें भी पहले साधारण, फिर कुछ अधिक भयंकर और फिर और भी अधिक भयानक बने समय के साथ अधिक विकास हुआ। पहले ऐसे हथियार बने कि एक आदमी दूसरे आदमी पर पास से ही हमला कर सकता था। तलवार, भाला आदि इस कोटि के हथियार थे। फिर ऐसे बने कि दूर से भी हमला किया जा सके, जैसे बंदूक और तोप आदि। मगर हथियारों की यह प्रतिस्पर्धा कहीं रुकी नहीं, ठहरी नहीं। आगे ही आगे बढ़ती चली गई। अब तो ऐसे-ऐसे हथियार बन गये हैं कि कुछ पूछिए नहीं। एक बम हजारों और लाखों की जान ले सकता है। और हथियारों की यह होड़ अब भी कहाँ समाप्त हुई है? भविष्य में इनसे भी अधिक भयानक शस्त्र निर्मित हो सकते हैं, जिनसे देश के देश बर्बाद हो जाएँ।

मगर आज हथियारों की भयंकरता ने विचारशील लोगों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया है कि आखिर मानवजाति को जीवित रहना है या इस धराधाम से सदा के लिए समाप्त हो जाना है?

वस्तुतः इन भौतिक शस्त्रों के बल पर संसार में शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। शस्त्र हिंसा का प्रतीक है, जनक है और इसी कारण वह अशान्ति बढ़ाने वाला है। हथियारों के विकास के साथ शान्ति का ह्रास हुआ है और अशान्ति की वृद्धि हुई है।

इसके अतिरिक्त ज्ञानी जनों का कहना तो यह है कि लड़ाई का यह तरीका ही गलत है। मनुष्य का मनुष्य के साथ लड़ना घोर

मूर्खता है, क्यों कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शत्रु नहीं, मित्र होना चाहिए, सहायक होना चाहिए। मनुष्य के असली शत्रु तो और ही हैं, जिन्हे या तो वह जानता, पहचानता नहीं अथवा जान-बूझ कर उपेक्षा करता है।

वे शत्रु कौन है ? मनुष्य के अंदर के विकार। उन विकारो की बदौलत ही उसे परेशानी होती है, कष्ट होता है, उसका अधः-पतन होता है और उसकी दुर्गति होती है। यह विकार ही तो हैं जो मनुष्य को मनुष्य का वैरी बनाते हैं; एक को दूसरे का गला काटने के लिए प्रेरित करते हैं। मनुष्य में दुर्बुद्धि उत्पन्न करते हैं और नाना प्रकार के अनर्थ उत्पन्न करते है। अन्यथा मनुष्य-मनुष्य में वैर क्या ? शत्रुता कैसी ? मनुष्य तो मनुष्य का सजातीय है, भाई है। किन्तु इन राग, द्वेष काम, क्रोध आदि विकारों ने मनुष्य के घर में आग लगा रक्खी है।

आज मनुष्य, मनुष्य से सबकी अपेक्षा अधिक भयभीत है। वास्तव में बात भी सही है। एक मनुष्य या मनुष्यसमूह दूसरे मनुष्य अथवा मनुष्यसमूह पर जितने जुल्म ढ़ाता है उतने दूसरा कोई नहीं। प्रकृति की कोई भी शक्ति इतनी डरावनी नहीं है जितना मनुष्य के लिए मनुष्य है !

मनुष्य के लिए यह कितनी लज्जोत्पादक बात है ? समस्त जीव जाति में मनुष्य का विकासस्तर सब से ऊँचा है और वह सर्वोत्कृष्ट प्राणी होने का दावा करता है। मगर उसके विकास का क्या यही परिणाम होना चाहिए कि वह अपने ही सर्वनाश पर उतारू हो जाय ?

मगर मनुष्य विकारों के वशीभूत है। उसने विकारों को खुली छुट्टी दे रक्खी है। आत्मसमर्पण कर दिया है। यही कारण

है कि वह विवेकविकल बन गया है। समय-समय पर ज्ञानी जन उसे चेतावनी देते रहे हैं और सन्मार्ग पर लाने का प्रयास भी करते रहे है, फिर भी मनुष्य अपने कुपथ का परित्याग करने में सामूहिक रूप से तैयार नहीं हुआ।

ज्ञानी पुरुषों ने उसे सुझाया है कि अगर तुझे लड़ना ही है तो अवश्य लड़, मगर अपने ही आन्तरिक विकारों से लड़। बाह्य युद्ध से कोई सारा निकलने वाला नहीं है। शास्त्रकार कहते हैं—

अप्पाणमेव जुज्झाहि ।
किं ते जुज्झेण बज्झओ ?

हे भद्र ! तू अपनी ही विकार युक्त आत्मा से लड़। बाहर वालो से लड़ कर क्या पायेगा ?

बाह्य युद्ध का अन्तिम परिणाम सदैव निराशा जनक होता है। वह पराज्य की ओर घसीटता है। उससे शत्रुओं का विनाश तो होता नहीं हैं, उलटी शत्रुवृद्धि होती है। इसके विपरीत अगर आन्तरिक युद्ध किया जाय, विकारों के साथ लड़ाई लड़ी जाय, तो संसार में विना ही विनाश और संहार, शत्रुओं का अभाव हो जाता है। विकारविजयी वीर के लिए कोई शत्रु ही नहीं रह जाता। समस्त प्राणी उसके लिए मित्र बन जाते हैं और वह भी सब का मित्र बन जाता है।

बाह्य युद्ध के लिए जैसे शस्त्रों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आन्तरिक युद्ध के लिए भी। मगर वह शस्त्र धातुनिर्मित नहीं होते। उनका निर्माण अन्तःकरण के कारखाने में होता है और वे भावनाओं से बने होते है। वे हथियार क्या हैं ?

संयम की बांध कटारी तू,
तप की तलवार ले धारी तू।
मार मार रे मोह दुश्मन को,
कर एकाग्र चित ॥ ४ ॥

हे सुभट ! तू कमर में साधुपन-संयम की कटार बाँध ले और हाथ में तपस्या की तीखो तलवार ले ले। फिर सम्पूर्ण उत्साह और पराक्रम के साथ मोह रूपी दुश्मन पर टूट पड़ और ऐसा टूटे कि शत्रु निश्शेष हो जाय। यही असली शत्रु है और यही शत्रुओं का माता-पिता है। तमाम शत्रु इसी दुष्ट की चिल्ली बिल्ली हैं। यह न रहेगा तो समस्त शत्रु अनायास ही समाप्त हो जाएँगे। अतएव इसे जीवित मत छोड़। इसे समाप्त कर देने में ही तेरी असली अन्तिम और महत्त्वपूर्ण विजय का रहस्य निहित है।

यों चौथमल्ल जतलाता है,
नर-तन से मुक्ति पाता है।
इस मन पर विजय करे तो,
गर्भ न आवे मीत ॥ ५ ॥

हे प्राणी ! इस मानव-तन से ही तुझे मुक्ति मिलेगी। यही शरीर केवलज्ञान का निमित्त बन सकता है। अतएव इस शरीर की उपयोगिता को समझ और इसका सदुपयोग करले। मगर यह सब तब होगा जब तू अपने मन पर काबू कर लेगा। मन को जीते बिना काम नहीं चलने का। विकार अपना जो प्रभाव दिखलाते हैं, यह सब मन के द्वारा ही। मन सब करणों में सूक्ष्म है, शक्तिशाली है, चपल है और साथ ही धृष्ट भी है। इसे वशीभूत करना साधा-

रण बात नहीं है। इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना पड़ता है और दीर्घ कालीन अभ्यास करना पड़ता है।

भले ही मन को वश में करना कष्टसाध्य हो मगर असंभव नहीं है और मनोविजय का परिणाम बड़ा ही सुन्दर होता है। अतएव मनोविजय के लिए यत्नशील होना चाहिए।

मन सब पर असवार है, मन के मते अनेक।
जो मन पै असवार है, वह लाखों में एक॥

शास्त्र में मन को घोड़े-दुष्ट घोड़े-की उपमा दी गई है। जो उसे काबू में कर लेता है और उस पर सवार हो जाता है, वह मोक्ष रूपी मंजिल में सकुशल पहुँच जाता है। मन रूप अश्व पर सवारी की थी जंबू कुमार ने, शालिभद्र ने, गजसुकुमार ने, जाली-मयाली कुमारों ने और भरत सगर आदि-आदि महापुरुषों ने। उन्होंने कर्मों का नाश करके मुक्ति पायी। वे महारणवीर और महान् योद्धा कहलाए।

मन सब पर सवार रहता है, परन्तु मन पर सवार होने वाला कोई विरला ही माई का लाल होता है। मगर धन्य वही है और सुखी भी वही है जो अपने मन पर सवार होता है।

अतएव बार-बार यही कहना है कि-भाइयो! इस मनुष्य शरीर से युद्ध कर लो। युद्ध वही कर सकेंगे जो उजले फूल होंगे। जिनका अन्तःकरण पवित्र और स्वच्छ होगा, वही मन को वशीभूत

करने का प्रयत्न करेंगे। काले फूल कभी युद्ध नहीं कर सकते। उनकी भावना मलीन होती है। मलीन भावना वाले नरक के अतिथि बनते हैं। अतएव जिन्हें आत्महित की चिन्ता है, उन्हें मनोविजय के लिए प्रयत्नशील होकर अपने विकारों का अन्त करने के लिए लड़ाई लड़नी चाहिए। यही लड़ाई प्रशस्त लड़ाई है। जो इस लड़ाई में विजयी होते हैं, वे भविष्य में आनन्द ही आनन्द प्राप्त करते हैं।

ब्यावर (अजमेर)
१०-१०-४७



असली और नकली

स्तुतिः—

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

जब भगवान् सुरनिर्मित समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके पीछे एक भामण्डल रहता था। वह अपूर्व प्रभा से मंडित और सैकड़ों सूर्यों से भी अधिक देदीप्यमान होता था। किन्तु वह

उष्ण नहीं होता था। इतना अधिक उद्योतमय होने पर भी शरद ऋतु की पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति शीतल होता था। उस भामंडल के कारण भगवान् के सन्निकट अंधकार फटक भी नहीं सकता था, मानों वहाँ रात्रि होती ही नहीं थी। उस भामण्डल को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभु की आत्मा में जो अनन्त प्रकाश पुंजीभूत हो गया है, वह अन्दर समा न सकने के कारण बाहर आगया है या उस आन्तरिक प्रकाश का प्रतीक है।

इस प्रकार लोकोत्तर प्रकाश से प्रकाशमान भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हें बार-बार हमारा नमस्कार हो।

भाइयो! भामंडल प्रकाश करता अवश्य है, परन्तु वह प्रकाश निर्जीव है और आत्मिक प्रकाश की तुलना में नगण्य है। भगवान् का ज्ञान-प्रकाश अपरिमित और अनन्त होता है। उसमें तीनों लोकों के समस्त भाव उसी प्रकार झलकते रहते हैं, जिस प्रकार स्वच्छ काच में सामने के पदार्थ। कोटि-कोटि सूर्य और चन्द्र भी जिस अंधकार को दूर नहीं कर सकते, उस अंधकार को भगवान् अपने ज्ञानालोक से दूर करते हैं और जगत् के जीवों का अनन्त उपकार करते हैं। अनादिकाल से अंधकार में भटकने वाले जीवों के लिए वही प्रकाश एक मात्र आधार है।

संसारी जीवों को प्रकाश की प्रथम रश्मि तब प्राप्त होती है जब उनके मिथ्यात्व का अन्त सम्यक्त्व के आविर्भाव से होता है। जब मिथ्यात्व रूपी निविड अंधकार का विनाश होता है, तभी जीव को अपने असली स्वरूप की झांकी मिलती है। आचारांगसूत्र में भगवान् फर्माते हैं—

जं सम्मं ति पासह, तं मोणं ति पासह,
जं मोणं ति पासह, तं सम्मं ति पासह।

जो समकित को जानेगा वही मौन-मुनिभाव अर्थात् संयम को जानेगा और जो मौन (संयम) को जानेगा, वही समकित को जानेगा।

यहाँ 'मोणं' पद साधु-अवस्था का वाचक है। मुनि का भाव मौन कहलाता है। साधारणतया वचन का निरोध मौन कहलाता है। अतएव कहा जा सकता है कि न बोलने वाला ही मुनि हो सकता है। साधु यदि बोलता है तो उसे मुनि किस प्रकार कहा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि साधु वाणी का प्रयोग करने पर भी मौनी ही है, क्योंकि वह भाषासमिति का पालन करता है, अर्थात् भलीभाँति सोच-विचार कर बोलता है। कर्कश, कठोर, संदिग्ध या असत्य भाषा का प्रयोग नहीं करता। साधारणतया वह मौन धारण करता है, किन्तु प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर और पथ्य वचनों का ही प्रयोग करता है। साधु पाप के कार्यों में नहीं बोलता, धर्म के ही काम में बोलता है। पाप-कार्यों में बोलने के लिए हम साधुओं को भगवान् ने मनाई की है। जिससे कर्म का आस्रव हो, ऐसी भाषा का प्रयोग साधु को नहीं करना चाहिए। इस वाचिक नियम का पालन करने के कारण मुनि मौनी कहलाता है।

अपनी वाणी पर पूर्णरूपेण नियंत्रण रखना मौन है। ऐसा नहीं कि मौन धारण की घोषणा करके मौनी तो कहलाने लगे, मगर किसी ने आकर पूछा-आपके लिए मूंग की दाल बनवाई जाय? तो सिर हिला कर कह दिया-नहीं। फिर पूछा-अच्छा, बैंगन का शाक? तो माथा मटका कर 'हाँ' कह दिया! इस प्रकार बोलना बंद करके भी सब प्रकार की स्वतंत्रता का उपभोग किया और सब पापों की छूट रक्खी। पाप वचन से ही नहीं होते, शरीर से भी होते हैं और मन से तो और अधिक होते हैं। इन सब योगों को अप्रशस्त व्यापार से विमुख करके प्रशस्त व्यापार में नियुक्त करने

से ही पापों का आगमन रुकता है। अतएव मन, वचन और काय के पाप--व्यापारों को रोकना ही मौन का लक्षण है।

धर्म--कार्य के लिए साधु को बोलना निषिद्ध नहीं। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी धर्मोपदेश करते हैं। उनसे कोई प्रश्न करता है तो उसे उत्तर भी देते हैं। अतएव पापकार्य में न बोलना ही मौन का व्यापक अर्थ है।

मुनित्व की पहली शर्त सम्यक्त्व है। जहाँ सम्यक्त्व नहीं है, वहाँ मुनिपन भी नहीं हो सकता। सम्यक्त्व की नींव पर ही मुनित्व की प्रतिष्ठा होती है।

वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रूप से समझना और अपनी रुचि--श्रद्धा को यथार्थता के सांचे में ढालना सम्यक्त्व है। जब जीव को सम्यक्त्व प्राप्त होता है तो उसे तत्त्व के प्रति रुचि उत्पन्न हो जाती हैं। उसके दृष्टि संबंधी समस्त विकार दूर जाते है। वह हेय और उपादेय को वास्तविक रूप में पहचान लेता है। वह सन्मार्ग का रसिया बन जाता है। सन्मार्ग पर भले ही थोड़ी सी दूर तक ही चल सके अथवा न भी चल सके, फिर भी चलने की भावना और श्रद्धा उसमें अवश्य ही उत्पन्न हो जाती है। वह धर्म और अधर्म का एवं पुण्य और पाप का भेद समझने लगता है।। धर्म को उपादेय और अधर्म को हेय मानता है।

सम्यक्त्व की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह ज्ञान संबंधी सब दोषों को दूर कर देता है और ज्ञान को शुद्ध समीचीन बना देता है।

चौदह गुणस्थानों में सम्यग्दृष्टि की जघन्य भूमिका चतुर्थ गुण स्थान है। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की

प्राप्ति हो जाती है, परन्तु इन्हे अमल में लाने को योग्यता प्राप्त नहीं होती। इस कारण चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है। इस गुणस्थान का जीव जब सर्वविरति-चारित्र को अंगीकार करता है तो साधु का पद प्राप्त कर लेता है। इन दोनों गुणस्थानों के बीच में जो पाँचवाँ गुणस्थान है, वह देशविरत गुणस्थान कहलाता है। यह अल्प सामर्थ्य वालों का गुणस्थान है। जिनमें सकल चारित्र का पालन करने की शक्ति नहीं है, वे इस गुणस्थान में आते है और उन्हे श्रावक अथवा श्रमणोपासक का पद प्राप्त होता है। तीर्थंकर भगवान् इस गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते। वे सीधे चौथे से छठे गुणस्थान में पहुँचते है। इसी प्रकार चक्रवर्त्ती भी पाँचवे गुणस्थान का स्पर्श नहीं करते। वे अगर संयम धारण करते हैं तो सर्वविरति संयम ही धारण करते हैं या धारण करते ही नहीं।

इससे आप समझ गये होंगे कि सम्यक्त्व के बिना चारित्र की प्राप्ति होना असंभव है। मगर सम्यक्त्व की प्राप्ति कोई सरल बात नहीं है। आज तो लोग खड़े होकर कह देते है-'महाराज, समकित धारण करा दीजिए। परन्तु यह न लेने की वस्तु है और न देने की। वह मिथ्यात्व का क्षय, क्षयोपशम या उपशम होने पर ही कोई जीव प्राप्त कर सकता है। उसके लिए अनन्तानुबंधी कषाय का भी त्याग करना पड़ता है। इन विशेषताओं के अभाव मे सम्यक्त्व को ग्रहण करना व्यवहार मात्र है। उसमें पारमार्थिकता नहीं। कहा भी हैं—

आरंभ ने वली परिग्रह, चारों तीव्र कषाय।
जब लग पतला नहिं पड़े, नाहिं समकित थाय।
इस समकित मन थिर करो ॥

भाइयो ! इस मन को सम्यक्त्व में स्थिर करो। महारंभी को रात-दिन आरंभ की चिन्ता लगी रहती है। उसे अत्यन्त तीव्र लालच होता है। एक आदमी के पास लाखों रुपये और दूसरे के पास दो रुपया भी नहीं हैं। किन्तु इन दोनों की तृष्णा में कितना अन्तर है ! जिसके पास दो रुपया भी नहीं हैं, उसे अगर दो रुपया मिल गये तो वह यही समझता है कि भगवान् आज मुझ पर राजी हो गये ! भाग्य खुल गया ! लखपति को अगर सौ रुपया मिल जाएँ तो भी उसके लिए कुछ नहीं हैं। वह तो करोड़पति होने का ही स्वप्न देखता रहता है और इसी प्रयास मे रात-दिन संलग्न रहता है। ममता की क्रिया और चक्रवर्त्ती को अविरति की क्रिया बराबर है। ममता वाले को जो पाप आ रहा है, वही चक्रवर्त्ती को भी आ रहा है। वह छह खंड का राजा है और यह गरीब है। इतना फर्क होने पर भी ममत्व की तीव्रता के कारण वह इतने बड़े पाप का भागी होता है।

तो इस प्रकार का तीव्रतम कषाय जब तक पतला नहीं पड़ता, तब तक सम्यग्दर्शन के दर्शन तक होना दुर्लभ हैं।

व्यापार मे जरा-सी ऊँचाई-निचाई आई और कहने लगे-महाराज, आज तो सामायिक मे मन ही नही लगा।" मैं कहता हूँ कि ऐसा कहने वालो ने सम्यक्त्व को पहचाना ही नहीं है।

आगरा की बात है। एक गृहस्थ दोपहर के समय मांगलिक सुनने के लिए आया। मैंने पूछा-भाई, आज इतनी देर से क्यों ? तब उसने कहा-महाराज, आज एक मेहमान को पहुँचाने चला गया था। इस कारण देर हो गई।

उसी समय पास खड़े दूसरे भाई ने बतलाया--महाराज, आज इनके इकलौते बेटे की मृत्यु हो गई।

इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन ! जिसकी आत्मा में सम्यग्दर्शन की दिव्य ज्योति दीप्त हो उठी है, वह अपने इकलौते बेटे की अन्त्येष्टि को भी मेहमान को पहुँचाना कहता है ! और क्यों न हो ऐसा ? जिसने जगत् के असार स्वरूप को समझ लिया है, जो जीवन की क्षणभंगुरता को पहचान चुका है, जिसने समस्त संयोगों को वियोगफलक जान लिया है वह प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक घटना के समय समभाव में ही स्थित रहता है। हर्ष और विषाद की लहरों में न बहता हुआ सदैव मध्यस्थ भाव के अमृत--रस का ही पान करता है। यह सम्यक्त्व का ही प्रभाव है। वास्तव में सम्यक्त्व आने पर रंगत ही पलट जाती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष के लिए दुनिया का रूप ही कुछ का कुछ हो जाता है। उसका चलना और देखना ही दूसरे प्रकार का हो जाता है। समस्त सांसारिक धंधे करता हुआ भी जैसे वह उनमें अलिप्त रहता है। इस प्रकार जीवन का सँवर जाना ही सम्यक्त्व है। इसी का नाम सामायिक है और केवल-ज्ञान भी इसी का नाम है।

तो सम्यक्त्व एक महान् विभूति है। आत्मा की अलौकिक निधि है। समस्त दुःखों से संरक्षण करने वाली अनुपम ढाल है। मोह के कारागार से निकालने वाला समर्थ सुभट है। आत्मा के मंगल का महामार्ग है। संसार-सागर के किनारे पहुंचाने वाला यान है। कहा भी है—

मोह–जेल में जीव पड़ा, अज्ञान–कपाट लगाया है।
राग–द्वेष पहरे वाले, समकित ने आन छुड़ाया है ॥

देखो, अनादिकाल से यह जीव मोह रूपी जेलखाने में पड़ा हुआ है। अज्ञान के किवाड़ लगे होने से वह बाहर नहीं निकल सकता। फिर राग और द्वेष ऐसे सख्त पहरे वाले हैं कि कोई उनकी आँख बचा कर नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थिति में सम्यक्त्व-सूर्य्य ही जीव को सहायता करता है। उसके प्रकट होते ही अज्ञान के कपाट खुल जाते हैं और राग--द्वेष ढीले पड़ जाते हैं। तब जीव को मोह के कारागार से छुटकारा मिलता है।

जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, तब तक यह जीव आत्मविस्मृत ही बना रहता है। लड़के की सगाई होती है तो वह फूला--फूला फिरता है। उसे ज्ञान नहीं होता कि वह बंधन में फँस रहा है। उसकी बुद्धि ही विपरीत होती है और इसलिए विचारधारा का प्रवाह भी विपरीत ही दिशा में बहता है। मगर—

फूले–फूले हम फिरें, होत हमारा ब्याव।
तुलसी गाय बजाय के, दिया काठ में पाँव॥

सगाई के पश्चात् विवाह होता है तो मनुष्य फूला नहीं समाता। कितनी खुशी होती है उसे! मगर वह नहीं जानता कि मैं जेलखाने में जा रहा हूँ। बींद (वर) राजी-राजी पीठी करवाता है और सोचता है कि अब तो मेरा रंग ही कुछ और हो गया। वह नहीं सोचता कि आज से पीलिया की बीमारी शुरु हो गई है।

फिर उसकी बिंदौरी निकलती है। आगे-आगे बाजे और तासे बजते हैं। उनकी ध्वनि सुन कर उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहता। वह नहीं सोचता कि आज से उसके पीछे छातीकूटा प्रारम्भ हो रहा है।

और जिस समय वर-राजा तोरण पर आता है तो उसके सामने जगमगाती हुई आरती आती है। वह उसे देख कर प्रसन्न होता है। लेकिन वह आरती क्या है, आर्त्ति-चिन्ता या पीड़ा है। वह बतलाती है कि एक दिन तुझे भी इसी प्रकार जगमगाती हुई आग में प्रवेश करना होगा। वह यह नहीं सोचता कि आज से मेरे जीवन में एक नयी आर्त्ति-चिन्ता आरम्भ हो रही है। और भी कहा है—

सगाई करीने खोडो घडियो, परण्यो ने पग घालियो।
छोरा-छोरी रूपी खीली लागी, फिर हाल्यो न चालियो॥

बोलो भाइयो! अब कहाँ गुजर है? कितने बड़े फन्दे में फँस गये? पहले तो छड़े कहलाते थे और अब खटले हो गये। इस प्रकार संसार में मोह का यह कारागार है। इस कारागार से मुक्त करने का सामर्थ्य सम्यक्त्व के अतिरिक्त और किसी में भी नहीं है। सम्यक्त्व के प्रकट होने पर ही तेरा इससे उद्धार हो सकता है। अतएव सम्यक्त्व जीव का परम सहायक है, मित्र है, उद्धारक है, त्राता है, सहायक है और दुःखविमोचक है।

सम्यग्दर्शन क्या करता है? उसमें क्या प्रभाव है? उसका कितना सामर्थ्य है? सुनो सम्यग्दर्शन का एक प्रण है, एक टेक है—

समकित-प्रतिज्ञा जिस मानव को,
एक बार यहां मिल जाती है।
उसे तीजे या पन्द्रहवें भव,
अर्द्धपुद्गल में मुक्ति ले जाती है॥

सम्यक्त्व कहता है—एक प्रण है मेरा। यदि मैं न आऊँ तो यह जीव चौरासी के ही चक्कर काटता फिरेगा। कितनी बार ? इसका कोई हिसाब नहीं। जीव ने जन्म ले-लेकर बार-बार मरण किया है और आज भी वही चक्कर चल रहा है। इसने कोई जाति नहीं छोड़ी कोई कुल भी नहीं छोड़ा। सातवें नरक में भी यह अनन्त बार गया और नौवें ग्रैवेयक में भी अनन्त बार जन्म ले चुका। इस विशाल चौदह राजू परिमित लोकाकाश का एक भी प्रदेश शेष नहीं रहा जहाँ यह जीव जन्म-मरण न कर चुका हो! और वह भी एक बार नहीं अनन्त-अनन्त बार! जब इसके भव-भ्रमण की आदि ही नहीं है तो आप स्वयं समझ सकते हैं कि कितनी बार यह जन्म-मरण कर चुका है! फिर भी आज तक इसका उद्धार नहीं हो सका। अब भी वही जन्म-मरण की प्रक्रिया अखण्ड रूप से प्रचलित है और उसका अन्त आने के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते।

जन्म-मरण का अन्त मुक्ति प्राप्त होने पर ही होता है और मुक्ति सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होने पर ही होती है। अतएव सम्यक्त्व का यह प्रण है कि—मैं प्रथम तो प्रकट होते ही जीव को केवलज्ञान की पूंजी देकर मुक्ति-पुरी भेज देता हूँ। कदाचित् देरी हो जाय तो तीसरे भव में भेजता हूँ। अधिक देर हो जाय तो पन्द्रहवें भव में रवाना कर देता हूँ। इससे भी अधिक विलम्ब हो जाय तो अर्ध पुद्गलपरावर्त्तन काल से ज्यादा तो रुकने ही नहीं देता। इस अवधि में तो अवश्य ही जीव को सिद्ध, मुक्त और परिनिर्वृत्त बना देता हूँ।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही जीव कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी बन जाता है। उसकी विचारधारा और भावधारा पवित्र हो जाती है।

अतएव मुक्ति सन्निकट आ जाना स्वाभाविक है। मगर चिदानन्दजी महाराज एक बार उस ओर झांकें तो सही !

सम्यक्त्व केवलज्ञान से कहता है–तू हजार प्रयत्न कर ले, मेरे बिना तेरा जन्म ही नहीं हो सकता। मैं ही वास्तव में तेरा जनक हूँ।

सम्यक्त्व ज्ञान केवल से कहे,
मैं जीव मोक्ष पहुँचाता हूँ।
मुझसे तुम क्यों विशेष करता,
मैं तेरे पहले आता हूँ ॥

सम्यक्त्व कहता है–हे केवलज्ञान ! मेरी बात सुन। मैं जीव को मोक्ष–मार्ग पर रवाना कर देता हूँ तो तू रास्ते में मिलता है। तू क्या मेरी प्रतिस्पर्द्धा करता है ? पहले मैं आता हूँ और फिर कहीं तेरा ठिकाना लगता है।

भाइयो ! इसी से मैंने कहा था कि सम्यक्त्व आत्मा का महान् वैभव है। वह आत्मा का त्राण करने वाला है। सर्वप्रथम सम्यक्त्व ही जीव को सही मार्ग पर ले जाता है। अन्यान्य गुण सब बाद में उत्पन्न होते हैं। उन सबका मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व न हो तो मोक्षमार्ग के अनुरूप किसी भी गुण का विकास नहीं होता। अतएव संसार के जीवो ! अब तो सम्यक्त्व की ओर उन्मुख होओ। सत्य की तरफ मुख फेरो। आत्मा की ओर देखो।

सत्य पथ पाए जा ऐ पाए जा,
तू मिथ्या भ्रम मिटाए जा ॥टेर॥

हे प्राणियो ! सत्य के मार्ग पर आओ। हे आत्मन् ! मिथ्यात्व के मार्ग का परित्याग कर। यही तेरे कल्याण का राज-मार्ग है। तू इसी मार्ग पर चल कर सुखी बन सकेगा। इसके अतिरिक्त संसार में कल्याण का दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है।

कागज के फूल बनावे,
नहिं भँवरा उस पर आवे।
तू इस पर लक्ष्य लगाए जा ॥१॥

कुशल से कुशल कलाकार हूबहू, असली सरीखे कागज के फूल बना दे, तो भी क्या भ्रमर उन पर मँडराएँगे ? सौरभ की अभिलाषा करने वाला भ्रमर कागज के फूलों पर नहीं आएगा। वह जानता है कि ये तो नकली फूल हैं। इनमें सुगंध नहीं है।

भ्रमर चतुरिन्द्रिय प्राणी है। उसे अपेक्षाकृत कम बोध है। फिर भी वह नकली पर नहीं, असली फूल पर ही जाता है। फिर अरे जीव ! तू तो पचेन्द्रिय है। संज्ञी है। मनुष्य है। तुझे अधिक बोध प्राप्त है। फिर भी तू असल और नकल में भेद नहीं समझ पाता और नकली पर ही रीझ रहा है ?

हरे कपड़े का हूबहू तोता बना कर आंगन मे रख दो तो भी बिल्ली उस पर झपट्टा नहीं मारती, क्योंकि वह जानती है कि यह असली नहीं, नकली तोता है।

जब जानवर भी इतना समझता है तो ऐ मनुष्य ! तू असली-नकली का भेद क्यों नहीं समझता ? यह तेरी कितनी भारी भूल है ?

दिल्ली में अगले जमाने मे एक जौहरी रहते थे। बादशाह के दरबार में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। काम पड़ने पर बादशाह उन्हे बुलवाता तो हाथी के हौदे पर बिठला कर उन्हे घर तक भेजता था। उनकी पत्नी उन्हे हाथी के हौदे पर विराजमान देखती तो बहुत प्रसन्न होती और ऐसा प्रतिष्ठापात्र पति प्राप्त होने के लिए अपने भाग्य की सराहना करती।

मगर काल तो समदर्शी है। वह प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित का विचार नहीं करता। उसके लिए सभी समान है। एक बार काल ने एक वार किया और जौहरीजी को उठा कर ले गया। सात-आठ वर्ष का एक बालक रह गया। स्त्री बहुत चतुर थी। उसने जौहरीजी के हाथ के बहुमूल्य हीरे, पन्ने, माणक, मोती आदि रत्न एक डिबिया में बंद करके तिजोरी में रख दिये। बच्चे को अच्छी तरह पढ़ाया-लिखाया। उधर बादशाह ने दूसरा राजजौहरी नियत कर लिया।

लड़का पन्द्रह वर्ष का हो गया। एक समय नवीन राजजौहरी हाथी पर आरूढ़ होकर जा रहे थे। सेठानी की दृष्टि उन पर पड़ी और वह अपने हृदय को सँभाल न सकी उसे अपने पति का स्मरण हो आया जो इसी प्रकार हाथी पर सवार होकर बादशाह के यहाँ आया-जाया करते थे। इस स्मृति के साथ ही सेठानी के नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी।

उसी समय जौहरी का पन्द्रहवर्षीय पुत्र वहाँ आ गया। उसने पूछा--माँ क्यों रो रही हो ?

माता -बेटा, जैसे ये जौहरी जा रहे है, वैसे ही तेरे पिताजी भी हाथी पर बैठ कर आया करते थे। जब वह स्वर्गवासी हो गये

तो बादशाह ने दूसरे को शाही जौहरी बना लिया है। यही दृश्य देख कर मैं अपना रोना रोक न सकी। पुत्र, अब तुम पढ़-लिख गये हो। व्यापार करना सीखो।

बेटा--अम्मा, व्यापार तो धन के बिना हो नहीं सकता और धन अपने पास है नहीं। क्या करूँ ?

माता ने उसी समय तिजोरी खोल कर कटोरदान में से डिबिया निकाली और हिफाजत से रक्खे हुए रत्न उसे दिखलाये। फिर कहा--अमुक जौहरी तुम्हारे पिता के मित्र हैं। यह जवाहरात उनके पास ले जा। उनसे कहना -यह जवाहरात रख लीजिए और दो-चार हजार रुपया व्यापार के लिए दे दीजिए।

लड़का अपने पिता के मित्र के पास पहुँचा। उसने देखा--जौहरीजी मसनद के सहारे बैठे हैं। आसपास कई मुनीम काम कर रहे हैं। लड़के को देख कर जौहरी ने पूछा--तुम किसके लड़के हो ?

लड़के ने कहा—मैं आपके मित्र अमुक जौहरी का लड़का हूँ।

सेठजी लड़के का परिचय पाकर बहुत प्रसन्न हुए। बोले—अच्छा अच्छा, तू मेरा भी बेटा है। आज तुझे देखा तो मुझे अपने मित्र की याद आ गई।

तब अवसर देख कर लड़के ने कहा--लालाजी, मै आज विशेष प्रयोजन से आया हूँ।

सेठ—बोलो, क्या प्रयोजन है ?

लड़के ने जवाहरात की डिबिया उनकी ओर सरकाते हुए

कहा-मेरे यह जवाहरात आप गिरवी रख लीजिए और दो-चार हजार रुपया दे दीजिए।

जौहरीजी ने डिबिया हाथ में ली और जवाहरात देखे। वे कुशल जौहरी थे और देखते ही पहचान जाते थे कि यह असली हैं या नकली? इन रत्नों के विषय में भी उन्हें भ्रम नहीं हुआ। पहचान गये कि यह सब असली नहीं नकली हैं। मगर जौहरी लाला जवाहरात के ही पारखी नहीं, मनुष्य के मन के भी पारखी थे। उन्होंने सोचा-अगर मैं इन रत्नों को नकली कह दूंगा तो गजब हो जायगा। लड़के के सारे उत्साह पर पानी पड़ जायगा और वह निराश हो जायगा। इसके अतिरिक्त इसकी माता की भी क्या दशा होगी जो इन्हें बहुमूल्य थाती समझ कर अब तक सँभाले बैठी है और जिसके भरोसे उसका जीवन संतोषमय और स्फूर्तिमय बना है।

यह सोच कर उन्होंने अपने हृदय का भेद लड़के को न देते हुए कहा-बेटा, यह रत्न वापिस लेजा कर अपनी अम्मा को ही दे दो। अगर व्यापार करने की तुम्हारी इच्छा है तो प्रसन्नता की बात है। तुम इस दुकान को अपनी ही दुकान समझ कर आया करो। पहले व्यापार करना सीख लो। फिर व्यापार आरंभ करना। इस बीच खर्च के लिए जो आवश्यकता हो, दुकान से ले जाया करो।

लड़का अपनी माता के पास लौट गया। उसने सब वृत्तान्त सुनाया और डिबिया वापिस लौटा दी। माता ने वह डिबिया फिर तिजोरी में बंद करके रख दी और कहा-बेटा ठीक तो है। आज गुरुवार से ही दुकान पर जाना आरंभ कर दो।

लड़के ने उसी दिन से दुकान पर जाना शुरु कर दिया। सेठजी ने सर्वप्रथम कौड़ियों का व्यापार लड़के को सौंपा। अब

सफलता के साथ वह यह व्यापार करके कमाने लगा तो उसमें पैसे भी शामिल कर दिये। इससे वह रुपया कमाने लगा। तत्पश्चात् चाँदी के गहनों का व्यापार उसे सौंप दिया। लड़का बड़ी होशियारी से व्यापार करता है और रोज पाँच रुपया कमा लेता है। तब सेठजी ने सोने की अशर्फियों का काम भी उसे सौंपा और उसमें अच्छी कमाई होने लगी। सेठ को बहुत सन्तोष हुआ।

मछली के बच्चे को कौन तैरना सिखलाता है? वह तो स्वयं ही तैरने लगता है। इसी प्रकार जौहरी का बच्चा अपनी ही परम्परागत प्रतिभा से व्यापार में सफलता प्राप्त करने लगा।

जौहरी लाला बच्चे की असाधारण प्रतिभा को देख कर जब हीरे पन्ने, माणक; मोती परखते तो उसे भी पास बुला लेते और रत्नों की विशेषताएँ समझाते। कहते–देख बेटा, यह मोती चूना खाड़ी का है और इसकी कीमत इतने हजार रुपया है! और यह बसेरे की खाड़ी का है। इसकी कीमत यह है। देखो, चूने की खाडी के मोती में तीसरे पुट में मिट्टी होती है। कभी कहते–देख बेटा, यह हीरा है। ऐसे रंग का हो तो इतनी कीमत का होता है।

इस प्रकार जौहरीजी ने बालक को जवाहरात के धंधे में भी कुशल बना दिया। लड़का इतना कुशल हो गया कि कभी-कभी जौहरी को भी मात देने लगा। जिस हीरे की कीमत जौहरी ने तीन हजार बतलाई, लड़के ने उसे दस हजार का कूता। बजार में जाँच कराने पर वह दस हजार का ही सिद्ध हुआ।

इस प्रकार जवाहरात के विषय में लड़का अत्यन्त प्रामाणिक परीक्षक माना जाने लगा। तब एक दिन जौहरी ने कहा–बेटा, एक बड़ा जलसा होने वाला है। उसमें जवाहरात की अच्छी बिक्री

होगी । तुम्हारे पास जो जवाहरात हैं, उन्हे ले आओ । इस अवसर पर अच्छी रकम मिल जायगी ।

लडका खुश-खुश घर गया । उसने अपनी माता से कहा—अम्मा वह जवाहरात तो निकाल दो । अच्छी कीमत में बिक जाएँगे ।

माता ने उसी समय तिजोरी खोल कर डिबिया निकाली और लडके के हाथ में दी । लड़के ने डिबिया खोली और जवाहरात देखे । अच्छी तरह आँखें गड़ा कर बार-बार देखे । फिर उन्हें दीवर पर जोर से दे मारा । यह हाल देख कर माता हैरत में रह गई । उसकी समझ में ही न आया कि मामला क्या है ? अतएव उसने कहा—बेटा, यह तो लाखों की कीमत के हैं । यह तूने क्या किया ?

लडके ने कहा—नहीं, माँ, यह किसी काम के नहीं हैं । यह तो पचास रुपये की कीमत के हैं । इन्हे अपने घर में रखना योग्य नहीं है । धन्य है जौहरी दादा, जिन्होंने इन्हे पहचान कर भी नहीं बतलाया कि यह नकली है और नगण्य मूल्य के है ।

लड़का लौट कर दुकान पर आया तो जौहरी ने कहा—बेटा लाये वह डिबिया ?

हँस कर लड़का बोला-आप नहीं जानते क्या जो मुझसे पूछते हैं ? दादा, आपकी दया के लिए मै सदैव आपका आभारी रहूँगा । उस समय आपने रहस्य प्रकट कर दिया होता तो न जाने क्या स्थिति होती ?

जौहरी ने गंभीर होकर कहा-मैं सब जान गया था । अब जवाहरात की जगह तेरी कीमत बढ़ गई है । तेरे पिता की जगह

दूसरा जौहरी नियत किया था, परन्तु अब वही पदवी तुझे मिलने वाली है।

आखिर उस लड़के की न केवल नगर में ही, वरन् दूर-दूर तक ख्याति फैल गई। रत्न परीक्षा में कोई उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था। धीरे-धीरे बादशाह के कानों तक भी यह संवाद पहुँच गया। बादशाह ने एक बार बुला कर उससे परीक्षा करवाई। उसे इतनी संतुष्टि और प्रसन्नता हुई कि उसने लड़के को शाही जौहरी के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। उसने अपने बुद्धि कौशल से लाखों रुपया कमा लिये। बढ़िया हवेली बना ली। अब वह भी हाथी के हौदे पर बैठ कर घर पर आता है। माता ने अपने सपूत बेटे का यह उत्कर्ष देखा तो हर्ष के कारण उसके नेत्र छलक आये।

कहो भाइयो ! इस उदाहरण से आपने क्या निष्कर्ष निकाला है ? अपनी-अपनी विचारधारा के अनुसार अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उनमें से सर्वप्रथम कहा जा सकता है कि—

स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं,
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥

स्त्री के चरित्र को और पुरुष के भाग्य को कोई भी नहीं समझ सकता। किसका भाग्य कब उदय हो जायगा और वह क्या से क्या बन जायगा, यह नहीं कहा जा सकता।

दूसरे, प्रत्येक व्यापारी को जौहरी लाला के समान होना चाहिए। वह आदर्श मित्र, आदर्श व्यापारी और दीर्घदर्शी थे। अपने मित्र के पुत्र के साथ उन्होंने जैसा व्यवहार किया, संसार में थोड़े ही लोग मिलेंगे जो वैसा करते हैं। अगर वह लड़के को सहारा न देते और बला टालने के लिए कह देते कि ये जवाहरात

नकली और निकम्मे हैं तो माता और पुत्र दोनों का ही जीवन दुःख-मय बन जाता। आज लोगों की सर्वसाधारण धारणा बन गई है कि व्यापार सिर्फ अर्थोपार्जन और स्वार्थसाधन के लिए ही किया जाता है। उसमें परोपकार के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। मगर यह धारणा भ्रमपूर्ण है व्यापार को भी जनता की सेवा का साधन मानकर जो चलता है, वही आदर्श व्यापारी कहलाता है। ऐसा व्यापारी अनुचित मुनाफा नहीं लेता, चीजों में मिलावट नहीं करता, धोखा नहीं देता; बल्कि प्रामाणिकतापूर्वक कार्य करता है।

तीसरी बात इस उदाहरण से यह सीखी जा सकती है कि असली का ज्ञान हो जाने पर नकली का त्याग कर देना चाहिए। आपको सम्यक्त्व की पहिचान हुई या नहीं ? अगर आपने सम्यक्त्व को समझ लिया है तो उसे ही ग्रहण करो। इमीटेशन-नकली-मिथ्यात्व को परित्याग करो। कब तक मिथ्यात्व के चक्कर में पड़े रहोगे कब तक इधर-उधर भटकते रहोगे और नीमड़ा देवी के आगे मस्तक झुकाते रहोगे ?

जब सच्चे देव, गुरु और धर्म पर श्रद्धा होगी तभी आत्मा में सच्चा सम्यक्त्व प्रकट होगा। सम्यक्त्व प्रकट होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होने में संशय नहीं रहता।

ऐ प्राणी ! यह मत समझ कि तेरा अस्तित्व इसी जीवन तक परिमित है। वर्त्तमान जीवन तो तेरी महान् यात्रा की एक छोटी-सी मंजिल है। इसके बाद भी तुझे यात्रा करनी है। परलोक में जाना है। उसका भी विचार कर। परलोक को सुधारने के लिए भी कुछ प्रयत्न कर ले। ऐसा न करेगा तो तेरा भविष्य दुःखमय बन जायगा। अतएव अवसर से लाभ उठा। जरा इस बात पर विचार कर कि भ्रमर नकली फूल पर नहीं जाता और बिल्ली भी नकली

कबूतर पर नहीं झपटती। फिर तू मनुष्य होकर क्यों नकली पर ही रीझ रहा है? असल को क्यों नहीं पहचानता?

कहाँ वीतराग की वाणी,
कहाँ मिथ्या मत की कहानी,
शुद्ध बोधि-बीज अपनाई जा ॥

भाइयो! सर्वज्ञ और वीतराग की वाणी में तथा मिथ्यादृष्टियों की बातों में बहुत अन्तर है। प्रकाश और अंधकार में जितना भेद है, उतना ही भेद इन दोनों में है। तुम इनके भेद को पहचानो और अपनी बुद्धि से दोनों की तुलना करो। वीतरागवाणी का अनुसरण करो और मिथ्यावाणी से दूर रहो। ऐसा न करोगे। तो खाली हाथों चौरासी में चक्कर काटते ही फिरोगे। और फिर कहाँ मिलना है मनुष्य का ऐसा शरीर और कहाँ पड़ा है मुनिराजों का यह समागम! अतएव निश्चय कर ले कि—

तू इस काया से भिन्न है,
और ज्ञान तेरा अभिन्न है।
मत माया में ललचाई जा ॥

तुझे यह जानना चाहिए कि वास्तव में क्या तेरा है और क्या तेरा नहीं है? अगर इस बात को समीचीन रूप से जान लेगा तो स्वतः अपने कर्त्तव्य का भान होने लगेगा। इसका निश्चय करने की कसौटी यही है कि जो वस्तु वास्तव में तेरी है, वह तीन काल में भी तुझसे पृथक् नहीं हो सकती। इसके विपरीत, जो वस्तु तुझसे अलग हो जाती है, समझ ले कि वह तेरी नहीं है। उसे तूने भ्रम से ही अपनी समझ ली है। तेरी काया जन्म से पूर्व तेरी नहीं थी

और मृत्यु के पश्चात् अलग हो जायगी। अतएव वह तेरी नहीं है।' वह तेरी हो भी कैसे सकती है? तू चेतन और काया अचेतन है। तू अमूर्त्त और काया मूर्त्त है। तू परम पावन रूप है और काया अपावन है। तू अनादि अनन्त है और शरीर क्षणविध्वंसी है। तू अदृश्य है, काया दृश्य है। तुझे किसी भी प्रकार का रोग स्पर्श नहीं करता, पर 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' अर्थात् काया रोगों का घर है। तू अनन्त आनन्द का लहराता सागर है तो शरीर जड़ होने के कारण आनन्द के स्पर्श से शून्य है।

इस प्रकार आत्मा और शरीर में अत्यन्त अन्तर है। दोनों की एकरूपता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इतनी भिन्नता होने पर भी, आश्चर्य की बात यही है कि मनुष्य अपने आपको शरीर से अभिन्न मानता है और शारीरिक अवस्था को ही आत्मिक दशा समझता है। इस भ्रम का परिणाम यह होता है कि मनुष्य शरीर और इन्द्रियों के सुख के लिए निरन्तर प्रयत्न शील रहता है और आत्मा के हित के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करता। जीवन की इतिश्री होती है तब शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है और आत्मा बिना पूंजी परलोक की ओर प्रयाण करता है। वहाँ उसे नाना प्रकार के दुःखों और कष्टों का सामना करना पड़ता है।

हजार साल-सँभाल करने पर भी शरीर को सदा स्थिर नहीं रक्खा जा सकता। समय-समय पर उसमें रोगों की उत्पत्ति होती है, जीर्णता आती है और अन्त में वह आत्मा के रहने के अयोग्य हो जाता है। इस विषय में मनुष्य की अभिलाषा काम नहीं आती। वह कुछ भी चाहे, शरीर अपनी प्रकृति का त्याग नहीं कर सकता। वह अपने स्वरूप में परिणति करता ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शरीर आत्मा से भिन्न है और वह

आत्मा के अनुशासन में भी नहीं है। फिर भोर उसे अगर अभिन्न समझा तो जान लो कि अभी तक 'इमीटेशन' में ही पड़े हो।

संसार स्वप्न की माया,
नहिं तृप्त हो कोई पाया।
मत जीवन विफल बनाई जा॥

सम्यग्दृष्टि जीव संसार को स्वप्नतुल्य समझता है। वह जानता है कि कोई भी मनुष्य अधिक से अधिक भोग भोगकर भी कभी तृप्त नहीं हो सकता। विषयाभिलाषा कभी शान्त नहीं होती। इसे पूर्ण करने में ही जो लगा रहता है, वह जीवन को निष्फल बना लेता है।

मुनि चौथमल्ल जतलावे,
जो मोह को दूर भगावे।
तो ज्योति में ज्योति समाई जा॥

रे जीव! मोह से मुक्ति प्राप्त कर ले तो ज्योतिःस्वरूप बन जायगा और सदा के लिए आनन्द ही आनन्द का भागी हो जायगा।

ब्यावर (अजमेर)
१६-१०-४७



वादचतुष्टय



स्तुतिः—

स्वार्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्ट—
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याम् ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व—
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

हे महाप्रभो ! आपकी वाणी अनुपम है। यों बोलने को तो जिन्हें रसना इन्द्रिय प्राप्त है, वे सभी बोलते हैं और इस भूतल पर अगणित धर्मप्रवर्त्तक एवं धर्मोपदेशक भी हो चुके हैं, परन्तु आपकी वाणी में जो विशिष्टताएँ थीं, वे असाधारण ही थीं।

आचार्य महाराज ने भगवद्वाणी की विशेषता बतलाते हुए कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया है। जैसे—

(१) भगवान् की वाणी स्वर्ग और मोक्ष के मार्ग का अन्वेषण करने के लिए इष्ट थी।

(२) सच्चे धर्म की प्ररूपणा करने में असाधारण रूप से पटु थी। तीनों लोकों में, इस संबंध में, भगवान् की वाणी का कोई मुकाबिला नहीं कर सकता था।

(३) वह वाणी विशद अर्थ को प्रकाशित करने वाली थी।

(४) उसमें एक आश्चर्यजनक विशेषता यह भी थी कि वह श्रोताओं की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती थी। अर्थात् भगवद्वाणी को सुन कर सब श्रोता यही समझते थे कि यह हमारी ही भाषा है।

शास्त्रों में भगवान् तीर्थंकर की वाणी की पैंतीस विशेषताएँ भी बतलाई गई हैं। परन्तु यहाँ संक्षेप में ही ऐसी मूलभूत विशिष्टताओं का उल्लेख कर दिया गया है, जिनसे अन्यान्य विशेषताओं का भी अनुमान किया जा सके।

जिनकी वाणी में असाधारण विशेषताएँ थीं और जिन्होंने उस वाणी से जगत् का परम कल्याण किया, जीवों का उद्धार किया, उन ऋषभदेव भगवान् को ही मेरा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयों ! भगवान् वीतराग का उपदेश सब प्राणियों के लिए हितकारी होता है। जो उस उपदेश को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करता है और फिर जीवन व्यवहार में लाता है, उसका भवभ्रमण मिट जाता है ! वह समस्त कर्मों से छुटकारा पा लेता है। कदाचित् कर्म बहुत अधिक हों और क्रिया इतनी समर्थ न हो कि उससे

समस्त कर्म कट जाएँ, तो भी उसे स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य होती हैं। तत्पश्चात् कुछ भव या आगामी भव में ही वह जीव सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

तीर्थंकर भगवान् की वाणी करुणामूलक है। वह प्राणी मात्र को दया के लिए प्रेरणा करती है। वह अपने श्रोता के मन में निश्चित धारणा उत्पन्न कर देती है कि किसी भी प्राणी को परिताप न पहुँचाना ही धर्म का सार है। अतएव जो श्रोता उस वाणी के अनुसार चलता है, वह प्राणी मात्र के प्रति करुणाशील बन जाता है। इस प्रकार अगर एक भी प्राणी ने भगवद्वाणी की आराधना करली तो समस्त प्राणियों को उससे लाभ पहुँचता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो तीर्थंकर की वाणी, जो सुनता है उसे भी और जो नहीं सुनता है उसे भी हितकर होती है।

भारतीय तत्त्वगवेषणाकर्त्ताओं का प्रधान ध्येय प्रायः मुक्ति लाभ करना ही रहा है। प्रत्येक धर्म और दर्शन का यही प्रयोजन है। सब मनुष्य को जगत् के बंधनों से छुड़ा कर मुक्ति का मार्ग बतलाने का प्रयास करते हैं। किन्तु अल्पज्ञता के कारण उनका तत्त्वनिरूपण प्रायः सही नहीं होता। मुक्तिप्राप्ति के उनके द्वारा बतलाये हुए मार्ग में भी अनेक दोष होते है। इस कारण कठिन से कठिन साधना करने पर भी अन्त में सफलता नहीं मिलती। परन्तु जो सर्वज्ञ और वीतराग हैं, उनका तत्वनिरूपण सर्वथा निर्दोष होता है। वे मुक्ति का सही मार्ग ही बतलाते हैं। इस कारण मुमुक्षु जीवों को वीतराग की वाणी का ही आश्रय लेना चाहिए।

जो विवेकशील मनुष्य भगवान् की वाणी का आश्रय लेता है, अपने प्रत्येक जीवन व्यवहार को उसी वाणी के अनुसार संचालित करता है, जो पूर्ण रुपेण उसी कल्याणी वाणी पर निर्भर रहता

है, जिसके अन्तःकरण में वीतरागवचनों पर अखण्ड आस्था विद्यमान रहती है, वास्तव में उसे किसी चीज की कमी नहीं रह जाती। उसके समस्त प्रयोजन पूर्ण हो जाते है। वह मुक्ति पाकर तो अनन्त आनन्द की उपलब्धि करता ही है, पर जीवित रहता हुआ और सशरीर रहता हुआ भी अपूर्व आनन्द का लाभ करने में समर्थ हो जाता है।

जगत् में अनेक प्रकार के प्राणी हैं। बहुत से आपकी दृष्टि में आते हैं मगर अधिकांश को आप नहीं देख सकते। उन सब में मनुष्य ही भगवान् की वाणी को समझ-बूझ कर पूरी तरह व्यवहार में ला सकता है। पूरी तरह व्यवहार में लाने की शक्ति अन्य किसी भी जीव में नहीं है। देवता, मनुष्य से अधिक शक्तिशाली होते हैं, मगर यह सामर्थ्य तो उनमें भी नहीं है। इस विषय में वे भी मनुष्य का मुकाविला नही कर सकते।

जहाँ तक भगवान् की वाणी के अनुसरण का प्रश्न है, देवों की अपेक्षा तो जानवर भी अधिक शक्तिमान हैं। जानवर देशविरति के आराधक हो सकते है, पर देवगण नहीं हो सकते।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य में धर्म के आराधन की असाधारण शक्ति है। मगर क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायो के कारण वह आराधना नहीं कर पाता। जो जितने अंशों में इन कषायों को जीतता जाता है, वह उतने ही अंशों में धर्म का आराधक बनता चला जाता है।

आप यह जानते हैं कि धर्मतत्त्व को समझने की क्षमता सिर्फ आत्मा में ही है। शरीर उसे नहीं समझ सकता। यह जो आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ हैं, इन्हे भी समझ नहीं है। कई लोग कहते हैं-आँख देखती है और कान सुनते हैं। मगर यह तो

केवल लोकव्यवहार ही है। इस व्यवहार में तात्त्विक सच्चाई नहीं है। देखना और सुनना एक प्रकार का ज्ञान है और वह आत्मा के अतिरिक्त किसी भी जड़ पदार्थ में नहीं हो सकता। जैसे कमरे में खड़ा हुआ मनुष्य खिडकी द्वारा देखता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा इन्द्रियों द्वारा जानता है। इसमें वास्तविक ज्ञाता तो आत्मा ही है। इन्द्रियाँ केवल द्वार हैं-खिड़की है।

असली बात तो यह है कि आत्मा ज्योतिपुंज है आलोकमय है। उसमें असीम ज्ञान का प्रकाश है। उसे अपनी स्वाभाविक स्थिति में किसी सहायक की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु कर्म से मलीन होकर उसकी चेतना शक्ति धुंधली हो रही है; अतएव उसमें निर्बलता आ गई है। इस कारण जैसे रोग के कारण स्वयं चलने में असमर्थ हुए मनुष्य को लकड़ी के सहारे की आवश्यकता पडती है, उसी प्रकार स्वयं जानने में असमर्थ आत्मा को इन्द्रियों की आवश्यकता होती है। जब आत्मा का सामर्थ्य पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है तब किसी बाह्य सहायक की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ही जानता है, इन्द्रियाँ नहीं जानती; इसके लिये क्या प्रमाण है? प्रत्यक्ष में तो इन्द्रियाँ ही जानती-देखती प्रतीत होती हैं। फिर इन्द्रियों के ज्ञातृत्व का अपलाप कैसे किया जाय?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विचार करने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। देखो, यह नियम तो सभी को मालूम है कि जो देखता या जानता है, उसी को बाद में उसका स्मरण होता है। ऐसा कहीं देखने में नहीं आता कि एक ने देखा हो और दूसरे को उसका स्मरण आ जाय। अब कल्पना कीजिए कि किसी के नेत्रों ने ताजमहल देखा। देखने के कुछ दिनों बाद ही उस

के दोनों नेत्र चले गये। ऐसी स्थिति में जिन नेत्रों ने ताजमहल देखा था, उनके अभाव में उसे ताजमहल का स्मरण भी नहीं होना चाहिए। फिर भी स्मरण तो आँखें न रहने पर भी होता है। इससे सिद्ध हुआ कि ताजमहल देखने वाले नेत्र नहीं थे, बल्कि नेत्रों द्वारा देखने वाला कोई और ही था जो नेत्रों के न रहने पर भी बना हुआ हैं और स्मरण करता है। उसी को आत्मा कहते हैं।

इसके अतिरिक्त, इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ही जान सकती हैं। नेत्र सिर्फ रूप को ही देख सकते है और रसना सिफ स्वाद का ही अनुभव कर सकती है। नेत्रों से रस को और रसना से रूप की प्रतीति नहीं होती। ऐसी दशा में अगर इन्द्रियाँ ही जानने वाली मानी जाएँ तो 'मै रूप को देखता हूँ और रस का भी आस्वादन कर रहा हूँ' इस प्रकार का सकलन रूप जो ज्ञान होता है, वह किसे होगा ? उक्त दोनों इन्द्रियों में से कोई भी दोनों विषयों को-रूप और रस को-नही जानती। अतः यह जोड़ रूप ज्ञान दोनों में से किसी को भी नही हो सकता। फिर भी ऐसा ज्ञान तो प्रत्येक को होता ही है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि वास्तव में इन्द्रियाँ ज्ञाता नहीं है। वह सिर्फ करण हैं, साधन है। वास्तव में इनके द्वारा आत्मा ही जानता है।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ। प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाली पुद्गलों की जो रचना है और जिसे हम आँख, कान, नाक आदि कहते हैं, वह द्रव्येन्द्रियाँ हैं। भावेन्द्रियाँ आत्मा की शक्ति रूप होती हैं जो हमें दिखलाई नहीं देती। शक्ति, शक्तिमान से कथंचित भिन्न होकर भी अभिन्न होती है। अतएव भावेन्द्रियाँ आत्मा से कथंचित् अभिन्न हैं। जिस प्रकार जीव और इन्द्रियों में भेदाभेद है, उसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों में कथंचित भेद और अभेद है।

इस प्रकार जरा गहरा विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जानने की क्रिया का कर्त्ता आत्मा ही है। इन्द्रियाँ करण मात्र हैं। लोक में इन्द्रियोंमें कर्तृत्व का जो व्यवहार होता है, वह सिर्फ इसी कारण कि वे करण हैं। इन्द्रियों को कर्त्ता समझना भ्रम है। इससे आत्मा की पहचान करने में गड़बड़ पड जाती है।

छह द्रव्यों में आत्मा ही चेतन द्रव्य है। वही उपादेय है। उसे आत्मा, हंस, चेतन, जीव प्राण ब्रह्म, पुरुष शिव आदि-आदि नामों से कहते हैं। भगवतीसूत्र में आत्मा के २३ नामों का वर्णन चलता है। यद्यपि नामो मे भेद है, तथापि नाम वाले में कोई भेद नहीं है। आत्मा में अनन्त गुण-पर्याय हैं और एक-एक गुण-पर्याय की अपेक्षा एक-एक नाम रखने से अनन्त नाम हो सकते हैं। इस प्रकार विशेषदृष्टि से नामों के अर्थ में विभिन्नता दिखाई देती है, फिर भी सामान्यदृष्टि स सब नामो का अर्थ एक ही है।

अनेक नामो द्वारा प्रतिपादित आत्मा ही प्रधान द्रव्य है। दो, तीन, चार, पाँच, दस, सौ, हजार आदि कितनी ही सख्या हो, लेकिन सब का मूल है एक। एक न हो तो आगे की संख्याएँ किसके आधार पर बनेंगी? इसी प्रकार यदि आत्मा न हो तो द्रव्यों की कल्पना ही किसे होगी? उनके स्वरूप का निर्धारण कौन करेगा? सब गाजे-बाजे इस आत्मा के ही पीछे हैं।

मान लीजिए, लोग कहते हैं-बरात जा रही है, बरात जा रही है। तब कोई प्रश्न करता है-इसमें बींद कौन है? उत्तर मिला-कोई नहीं। तब पूछने वाला यही कहेगा कि तो क्या तेरे बाप की जान (बरात) जा रही है? बराती तभी कहलाते हैं जब बींद (वर) हो और फौज तभी कहलाती है जब कमाण्डर हो। इसी प्रकार आत्मा के होने पर ही सब द्रव्यों का विधिविधान है। आत्मा न हो

तो अन्य द्रव्यों को द्रव्य कहने वाला ही कोई न रहे। अतएव सर्वप्रथम आत्मा का ही नंबर आता है। स्थानोगसूत्र में सब से पहले 'एगे आया' पाठ आया है, जिसका अर्थ यह है कि द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से आत्मा एक है।

नीतिकारों ने कहा है—'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्'। अर्थात् पुत्र के अभाव में घर सूना-सूना लगता है। जब तक लड़का नहीं होता तब तक घर के लोग उदास रहते हैं। लडके का जन्म होते ही माता पिता, भाई, बहिन, कुटुम्बी और आढ़तिया तक प्रसन्न हो जाते हैं, क्यों कि वे समझते लगते हैं कि कुटुम्ब का मूल उत्पन्न हो गया है। लड़का, माता पिता के लिए आधारभूत है। इस प्रकार सबको प्रसन्न करने का मूल कारण बच्चा ठहरा। कहा भी है—

मन बिन कवित श्रुत बिन ज्योतिष,
बिन नाटक चेटक को वेद किस्यो ?
राजा बिन राज, राज बिना तूरी,
बिन तूरी के ताज किस्यो ? ।
पुत्र बिन रति घृत बिन भोजन,
बिन दीपक मन्दिर किस्यौ ?
केवलदास बनाय कहे,
भाई, दयाधर्म बिन धर्म किस्यौ ? ॥

देखो, मन की मौज के बिना, किसी के कहने-सुनने से, कविता नहीं बन सकती। कवि के भावुक हृदय में जब भावना की लहर उत्पन्न होती है, तब स्वयं कविता का निर्माण होने लगता है।

बोलने की चतुराई के अभाव में वैद्य किस काम का ? वैद्य बोलने में चतुर हो तो रोगी के रोग का बहुत-सा अंश तो उसके आश्वासन से ही दूर हो जाता है। विना बेटे के परिवार की शोभा क्या ? बेटियाँ बहुत हो गई तो भी घर का मूल कहाँ हैं ? पुरुष, स्त्री से चूरमा बनाने के लिए कहता है, किन्तु स्त्री कहती है-घर में घी तो है ही नहीं। कदाचित पुरुष कहे कि पानी को छींटा देकर लड्डू बना लेना, लेकिन लड्डू पानी से नहीं बनेंगे। इसी प्रकार विशाल हवेलियाँ हों मगर उनमें दीपक न हो तो किस काम की हैं वे हवेलियाँ ? घोर अंधेरे में वे भूतघर के समान डरावनी प्रतीत होती है।

इसी प्रकार केवलदासजी कहते हैं-कोई आदमी रूप-रंग में सुन्दर हो, छैल-छबीला हो, पढ़ा--लिखा हो, चलता पुर्जा हो मगर उसके दिल में दया नहीं है तो जानवर का और उसका जन्म बराबर ही है। दया धर्म के विना धर्म कैसा ? सब धर्मों का मूल दया है। जहाँ दया नहीं वहाँ धर्म नहीं। दया के विकास के लिए ही अन्य सब धर्मों का विधान है।

और सब का मूल आत्मा है। मकान पूरा बन कर तैयार हो गया, मगर वह ठहरा हुआ किस पर है ? चार वेद, अठारह पुराण और बत्तीस ही आगम-सब के सब आत्मा पर अवलम्बित हैं। आत्मा के विना वेद और शास्त्र आएँगे कहाँ से ? और करेंगे क्या ? इस प्रकार आत्मा ही प्रधान वस्तु है। श्री मद् आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर स्वामी ने फर्माया है—

जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण विजाणाति से आया।
तं पडुच्च परिसंखायए, एस आयवादी,
समियाए परियाए वियाहिते त्ति बेमि ॥

जो आत्मा है वही विज्ञाता है और जो विज्ञाता है वही आत्मा है। जो सब कुछ जान रहा है, देख रहा है, वही तो आत्मा है जो जाने नहीं वह आत्मा ही क्या ? जिसके द्वारा जाना जाता है, वह आत्मा है।

इस प्रकार जो जानता है, समझता है, उसी को आत्मवादी कहते हैं। जो आत्मा के चेतन-स्वभाव का ज्ञाता नहीं है, जिसे यह पता नहीं कि आत्मा वस्तुतः ज्ञानमय है, उसे आत्मवादी नहीं कहा जा सकता। जो सच्चा आत्मवादी है, उसी को साधुपन आता है।

चार प्रकार के वादों में पहला आत्मवाद है। जो आत्मा के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता है, जो आत्मपक्षी है, आत्मा की स्थापना करने वाला आत्मा को सिद्ध मानने वाला है, वही आत्मवाद का समर्थक है। आत्मवाद के बाद तीन वाद और आते है— लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।

इन चारों वादों का स्वरूप क्या है, इस विषय में भगवान् महावीर श्रीगौतम से कहते हैं:—

गौतम सुन लीजे, ये वाद हैं चार प्रकार ॥ टेक ॥
जीव नित्य अविनाशी है, ले ज्ञान गुणों को धार ॥१॥

यह आत्मा नित्य है, अमूर्त है, अविनाशी है और सनातन है। यह नहीं कि पहले नहीं थी, अब उत्पन्न हो गई है या होकर नष्ट हो जायगा अथवा अब बन जायगी। वह तो सदा से है और सदा रहेगी। न उसका उत्पाद है, न विनाश है। वह अज है, अमर है, त्रिकालवर्त्ती परम तत्त्व है। उसके विषय में कहा गया है—

परमानन्दसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यंति, निजदेहे व्यवस्थितम् ॥
अनन्तसुखसम्पन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम् ।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ॥
निर्विकारं निराधारं, सर्वसंगविवर्जितम् ।
परमानन्दसम्पन्नं, शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥

वह आत्मा परम आनन्दमय है । निर्विकार है, निरामय अर्थात् सब प्रकार के रोगों से रहित है । यद्यपि वह इस देह में व्याप्त है फिर भी ध्यानहीन जन उसे देख नहीं सकते ।

आत्मा अनन्त सुख से परिपूर्ण है, ज्ञान रूपी अमृत की वर्षा करने वाले मेघ के समान है । उसमें अपरिमित वीर्य-शक्ति है । उस परम-आत्मा का ऐसा स्वरूप है ।

आत्मा सब प्रकार के विकारों से विहीन है । सब का आधार होती हुई भी निराधार है । सब प्रकार के बाह्य पदार्थों के संसर्ग से शून्य, शुद्ध चैतन्य लक्षण वाली है और परमानन्द से परिपूर्ण है ।

और भी कहा है—

स एव परमं ब्रह्म, स एव जिनपुंगवः ।
स एव परमं तत्त्वं स एव परमो गुरुः ॥
स एव परमं ज्योतिः, स एम परमं तपः ।
स एव परमं ध्यानम्, स एव परमात्मकम् ॥
स एव सर्वकल्याणं, स एव सुख भाजनम् ।
स एव शुद्धचिद्रूपं, स एव परमं शिवम् ॥

भाइयो ! आत्मा ही परम ब्रह्म है, आत्मा ही जिनराज है, आत्मा ही परम तत्त्व है, आत्मा ही परम गुरु है, आत्मा ही परम ज्योति है, आत्मा ही परम तप है, आत्मा ही परम ध्यान है और आत्मा ही परमात्मा है। वह समस्त कल्याणों का कारण है सुख का भाजन है, शुद्ध चैतन्य स्वरूप है और आत्मा ही परम शिव है।

वास्तव में आत्मा ही सार भूत पदार्थ है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब असार है, निरुपयोगी है। अतएव मानव-जीवनका सबसे बड़ा और सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ यदि कुछ है तो आत्मा को पहचान लेना ही है। जिसने आत्मस्वरूप को समझ लिया, उसे कुछ भी समझना शेष नही रह गया। ज्ञानी जनों की प्रबल प्रेरणा का सार यही है कि तुम अपने स्वरूप को समझो। वे बार-बार यही कहते हैं—

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचम्,
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्,
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपम्,
कुरु कुरु पुरुषार्थं निवृत्तानन्दहेतोः ॥

अर्थात्-हे भव्य प्राणी ! तू पर-पदार्थों के संग से उपरत हो, उपरत हो। दुनिया के प्रपच को छोड़ छोड़। मोह त्याग कर त्याग कर और जान, अवश्य जान आत्मा के तत्व को। सदाचार धारण कर और अपने स्वरूप को देख। पुरुषार्थ कर। यही तेरे कल्याण का मार्ग है। यही मुक्ति का कारण है। इसी में तेरे जीवन की सफलता है।

इस प्रकार जो ज्ञानानन्दमय आत्मा के स्वरूप को जानता है, आत्मा पर पूर्ण श्रद्धा रखता है, आत्मा के प्रयोजन की पूर्त्ति के

लिए ही प्रयत्नशील हैं; वही वास्तव में सच्चा आत्मवादी है।

जो आत्मा का बनना और नष्ट होना स्वीकार करता है, उसने आत्मा के स्वरूप को समझा ही नहीं है। मुसलमानों के मज-हब में लिखा है कि खुदा ने रूहें इकट्ठी की हैं और शरीर बनाता जाता है, तब भेजता है। जब आदमी मर जाते हैं तो रूहें फिर वहाँ जमा होती जाती है!

इस संबंध में विचार करने योग्य बात यह है कि अगर आत्मा की उत्पत्ति और विनाश होता है तो वह कर्मों का फल किस प्रकार भोगेगी? जब नयी बनाई जायगी तो किस आधार पर उसे सुख-दुःख की प्राप्ति होगी? नष्ट हो जायगी तो किये कर्मों का फल कैसे भोग सकेगी? इसके अतिरिक्त, अगर आत्मा है तो उसकी नास्ति नहीं हो सकती। अगर नास्ति है तो अस्ति नहीं हो सकती। सत् पदार्थ का नाश नहीं होता और असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती। आत्मा के विषय में यह जो कहा गया है, वास्तव में सत्य है—

न जायते म्रियते वा कदाचि—
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं–आत्मा का न जन्म होता है, न मरण होता है। यह अज है और अमर्त्य है। नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है अर्थात् जो पूर्वजन्मों में थी, वह इस समय है। यह शरीर कटता है, छिदता है, भिदता है, नष्ट होता है, लेकिन आत्मा का छेदन भेदन

ीं होता। आत्मा का कदापि विनाश नहीं हो सकता। आत्मा
ा से है और सदा काल इसकी सत्ता रहेगी।

भाइयो! संसार में अनेक ऋषि-मुनि, अवतारी पुरुष हुए और उन्होंने आत्मा की सत्ता और नित्यता का निरुपण किया। श्रीकृष्ण भी वही कहते है जो भगवान् महावीर और ऋषभदेव हते हैं। ऐसी स्थिति मे कोई राह चलता गपोडशंख कह दे कि ात्मा नहीं है तो आप उसका कहना मान लेंगे? जिन्होंने विराट तस्या की, अपना समग्र जीवन आत्मा के विचार और मनन मे खपा दिया, घोर साधना की, उनके वचनों के सामने साधारण ादमी के वचन का क्या मूल्य हो सकता है? फिर आपके पास ो तो बुद्धि है। आपको स्वयं आत्मा के विषय में विचार करना ाहिए। विचार कर निश्चय करना चाहिए और आत्मा के ही ल्याण में निरत होना चाहिए!

जिन लोगों ने साधना नहीं की है, आत्मतत्व की गवेषणा ; लिए समुचित श्रम नहीं किया है; वे लोग यों ही कह देते हैं या केतावों में लिख देते हैं कि आत्मा है ही नहीं। कई अंग्रेजी पढ़ने ाले और विचारहीन लड़कों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। परन्तु जो अधिक विचार नहीं कर सकते, उन्हे भी यह तो सोचना ही चाहिए के आत्मा की सत्ता बतलाने वाले कौन थे? कैसे थे? उनका जीवन कैसा था? और जो आत्मा का अभाव कहते हैं, वे कैसे हैं? उन्होंने आत्मतत्त्व की खोज करने के लिए कुछ तपस्या की है या नहीं? अगर तपस्या नहीं की हैं और यों ही जो मन में आया सो कह दिया है तो उनकी बात माननीय कैसे हो सकती है?

कहने वाला कुशल हो और उसकी कहने की शैली यदि अच्छी हो तो इस मगज में कोई भी बात जम जाती है। इस दिमाग

के बिगड़ते देर नहीं लगती। जो लोग बहुत वर्षों से सामायिक करते और माला फेरते हैं उन्हे भी अगर कोई दूसरी बात जँचा देता है तो कई उसे छोड़ देते है और कुछ और ही करने लगते हैं।

इस प्रकार दुनिया में कई तरह के लोग है और तरह-तरह की विचार धाराएँ हैं, मगर उनके चाले नहीं लगना चाहिए। सर्वज्ञों के कथन में शंका करने का कोई कारण नहीं। उनकी बात कदापि मिथ्या नहीं हो सकती। सर्वज्ञ भगवान् ने आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन किया है। अतएव हमें उस पर अटल श्रद्धा होना चाहिए। एक क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिए कि हमें इस शरीर का त्याग करके परलोक जाना है और इस जन्म के तथा पुरातन कर्मों के अनुसार ही वहाँ सुख-दुःख की प्राप्ति होगी। ऐसा समझ कर सयम और सदाचार को जो अपनाएँगे, वही भविष्य में सुख के पात्र बनेंगे। जो परलोक पर अविश्वास करके उच्छृखल, असयत और दुराचारपरायण रहेंगे, परलोक में उन्हे भयानक विपत्तियों और संकटों का सामना करना पड़ेगा।

भाइयो ! जब ऋषभदेव और महावोर जैसे तीर्थंकरों ने तथा कृष्ण जैसे अवतारी-पुरुषों ने और अनेक ऋषियों-मुनियों ने आत्मा की शाश्वतता एक स्वर से स्वीकार की है तो उसमें संशय के लिए अवकाश ही कहाँ रह जाता है? भगवान् के कथनानुसार कवि कहता है—

सत्य आत्मा एक ही है, और ज्ञान आत्मा एक ही है।
आनन्द आत्मा एक ही है, सच्चिदानन्द भी एक ही है॥

संसार में जो सत्य है, वही आत्मा है। सत्य और आत्मा

एक ही है। सत् उसे कहते है जिसका कभी नाश नहीं होता। अतएव आत्मा सत्य है और सत्य आत्मा है।

इसी प्रकार ज्ञान और आत्मा भी भिन्न-भिन्न दो वस्तुएं नहीं है। ज्ञान है सो आत्मा है और आत्मा है सो ज्ञान है। जैसे शक्कर और मिठास अलग-अगल नहीं इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान भी अलग-अलग नहीं हैं। घी से चिकनाई अलग नहीं को जा सकती और चिकनाई से अलग घी नहीं किया जा सकता। अटएव इन्हे भी भिन्न नहीं कह सकते।

इसी प्रकार आत्मा और आनन्द भी एक ही है। आत्मा से पृथक आनन्द की और आनन्द से पृथक् आत्मा की कल्पना करना अयोग्य है।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द भी आत्मा से अभिन्न है 'सच्चिदानन्द' पद में सत्, चित् और आनन्द का समावेश हैं और इनके संबंध में पहले ही कहा जा चुका है।

प्रश्न हो सकता है कि अगर सत्ता, चित् (ज्ञान) और आनन्द आत्मा से पृथक् नहीं हैं तो इनके पृथक्-पृथक् नाम क्यों हैं?

इस प्रश्न का उत्तर जैन धर्म में अत्यन्त सुन्दर दिया गया है। आत्मा द्रव्य है और ज्ञान एवं आनन्द आदि उसके गुण हैं। द्रव्य से गुण और गुण से द्रव्य का आत्यन्तिक भेद नहीं होता, क्योंकि गुणों का समूह ही द्रव्य कहलाता है। गुणों से पृथक् द्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। जैसे हाथ, पैर, पेट, कमर, वक्षस्थल आदि-आदि अंगोंपागों का समूह ही शरीर है और इन अंगों से भिन्न शरीर नहीं है, इसी प्रकार गुणों से भिन्न द्रव्य नहीं

है। गुण अंश हैं, द्रव्य अंशी है। अतएव दोनों में एकान्त पार्थक्य मानना असंगत है। ऐसा मानने से न गुणों की ही सत्ता सिद्ध हो सकती है और न द्रव्य की ही। हमें द्रव्य से रहित अकेले गुणों की कभी और कहीं भी प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार द्रव्य के विना कोरे गुण भी कहीं दिखलाई नहीं देते। जहाँ कोई रूप-रंग दिखाई पड़ेगा वहाँ उसको आधार भूत कोई न कोई वस्तु भी अवश्य होगी और जहाँ कोई दृश्य वस्तु होगी, वहाँ कोई रूप-रंग भी होगा ही।

यही बात अदृश्य आत्मा के विषय में भी सत्य है। आत्मा की सत्ता उसके गुणों पर और उसके गुणों की सत्ता आत्मा पर निर्भर है।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि आत्मा ज्ञानमय और आनन्दस्वरूप है तो उसे अज्ञान और तज्जन्य दुःख की प्राप्ति क्यों होती है? वह सदैव ज्ञानान्द से परिपूर्ण क्यों नहीं रहती?

इसका उत्तर यह है कि आत्मा जब अपने स्वभाव से बाहर जाती है, तभी उसको दुःख की प्राप्ति होती है। अगर वह समझ ले कि मैं तो नित्य हूँ, अजर-अमर हूँ और शरीर से न्यारा हूँ, तो रोने-झीकने का काम ही नहीं रहता। मगर भ्रमवश, आत्मा शरीर को अपना मानने लगता है। इसी कारण उसे दुःख की प्राप्ति होती है।

जब तक दूसरों की हवेली थी तब तक तो कुछ नहीं था, किन्तु जब खुद की हवेली बन गई तो उसे अपनी समझने लगा अतः किसी भी आत्मभिन्न पदार्थ को अपना समझना ही दुःख का मूल है।

जब तक सगाई नहीं होती तब तक उस लड़की के प्रति जिसे कुछ भी अनुराग नहीं था और उसकी ओर आँख उठा कर नहीं देखता था, मगर सगाई होते ही उस पर अनुराग उत्पन्न हो जाता है। जब वह निकलती है तो गौर से देखता है, यहाँ तक कि उसकी गली में भी जाकर देखने को कोशिश करता है।

इस प्रकार जब आत्मा अपने गुणों से बाहर हुई और बाहरी चीजों को अपनी मानने लगी, तभी दुःख लग गया।

किसी पड़ौसी के घर चोरी हो जाती है तो मनुष्य को दुःख नहीं होता, लेकिन अपनी बेटी के ससुराल में चोरी हो जाती है तो कितना दुःख होता है? इसका कारण यही है कि उसे वह अपना मानने लगा है। अपना मानना ही अपने लिए दुःख का निर्माण करना है। इस प्रकार जब आत्मा अपने स्वरूप से बाहर निकलती है तो झगड़े पैदा हो जाते हैं।

दुःख सभी को अप्रिय है और सुख प्रिय है। संसार के क्या छोटे और क्या बड़े समस्त प्राणी सुख की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। मगर खेद है कि वे सुख के लिए जो प्रयत्न करते हैं, वह अज्ञान के कारण विपरीत होता है और इस कारण उस प्रयत्न से उलटे दुःख की प्राप्ति होती है। संसारी जीव पर पदार्थों में सुख मान बैठे है और सुख पाने के लिए उन्हीं का संचय करते हैं। वही संचय दुःख का कारण है। इसी वजह से आत्मा सुखी नहीं हो पाता। ज्ञानी जन तो स्पष्टरूप से घोषणा करते हैं—

विरम विरम संगात्,
मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चम्।

अरे संसार के प्राणियो ! पर-पदार्थों के संसर्ग से विराम पाओ, विराम पाओ । प्रपंच का परित्याग करो, परित्याग करो। यही सुख का राजमार्ग है। पर ज्ञानियों की सुनता कौन है ? संसारी जीवों ने तो अपना शास्त्र मानों अलग ही बना लिया है और वे लोकव्यवहार के बहाने दुखों को सृष्टि करते ही रहते हैं !

भाइयो ! दुःख से बचना है और वास्तव में सुख पाना है तो अपनी सारी कल्पनाओं को सुधारो। आत्मा के स्वरूप को पहचानो।

जीव है और शाश्वत द्रव्य है तो उसके रहने के लिए कोई स्थान भी होगा। जैसे मनुष्य के रहने के लिए घर चाहिए और मनुष्य न हो तो घर को कौन पूछता है ? इसी प्रकार जीव है तो वह किसी न किसी स्थान पर रहेगा भी। उसके रहने का स्थान लोक है। सब ओर अनन्त और असीम फैले हुए आकाश का एक छोटा-सा भाग लोक है, जिसमें आकाश के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी अवगाहन किये हुए हैं।

धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल जंतवो ॥

जिस क्षेत्र रूप आकाश में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य हों, उसी को लोक कहते हैं। इन छह द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। मगर काल, पुद्गल और जीव अनन्त द्रव्य है।

इन छह द्रव्यों में केवल आत्मा ही चेतन का धनी है। अतएव जीव तो शेष पाँच द्रव्यों को जानता है, लेकिन पाँचों द्रव्य

ीव को नहीं जानते। जीव चैतन्यस्वरूप है, अतएव वह अपने ापको भी जानता है।

इस प्रकार जो आत्मवादी होगा–आत्मा को स्वीकार करेगा, से लोक भी मानना पड़ेगा।

प्रश्न उठता है कि लोक कब से है? जब दूसरे हमसे यह श्न करते हैं तो उन्हीं से प्रश्न करते हैं कि यह लोक कृत्रिम है या कृत्रिम है? अगर यह अकृत्रिम है तब तो इसे नित्य–अनादि ौर अनन्त–मानना ही पड़ेगा। और यदि इसे कृत्रिम कहते हो यह कहो कि इसे बनाने वाला कौन है? और जो इसका बनाने ला है, वह कब से है? अगर लोक को बनाने वाला हमेशा से तो लोक भी हमेशा से होना चाहिए। वस्तुतः—

काहू न करै न धरै को,
षट् द्रव्यमयी न हरै को।

न कोई लोक का निर्माण करता है, न कोई धारण करता है र न संहरण करता है। यह षट्द्रव्यमय नित्य और शाश्वत है। ा से है, सदा रहेगा।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आत्मा को समग्र लोक इधर से उधर कौन भटकाता है?

प्रवाह कर्म से कर्म जानता, शुभाशुभ ले विचार ॥

कर्मों के प्रभाव से जीव नाना प्रकार की योनियों तथा तेयों में परिभ्रमण करता है। चार गतियों और चौरासी लाख नेयों में से कोई योनि ऐसी नहीं, जहाँ अनन्त बार यह जीव न ा हो। इसे भटकाने वाला कर्म ही है। कर्म अनादिकाल से जीव

के साथ संबंध है। यद्यपि किसी भी कर्म की स्थिति सत्तर कोटाकोटी सागरोपम से अधिक नहीं है, तथापि प्रवाह की अपेक्षा से अनादिकालीन है। जैसे नदी के प्रवाह में कोई भी जलबिन्दु एक जगह स्थिर नहीं रहता, तथापि प्रवाह स्थिर है, इसी प्रकार कर्मों का प्रवाह अनादि है। पुराने कर्म स्थिति का परिपाक होने पर अपना अनुभव फल-देकर अलग हो जाते है और नये कर्म बँधते रहते हैं। अतएव कर्मों की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चल रही है। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से नहीं है, सिर्फ कर्म प्रवाह अनादिकालीन है।

जीव में जो शुभ या अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं उनके अनुसार नवीन कर्मों का बंध हो जाता है। वे बद्ध कर्म जब उदय में आते है तो फिर किसी प्रकार का भाव उत्पन्न करते हैं और उन भावों से फिर कर्मों का बंध हो जाता है। इस प्रकार द्रव्यकर्म और भावकर्म परस्पर एक दूसरे के जनक होकर प्रवाह को स्थिर किये हुए हैं।

जैसे 'कोई व्यक्ति किसी से सौ रुपये उधार लाता है और पचास चुका कर फिर डेढ सौ ले आता है। फिर कुछ देता है और फिर कुछ ले आता है। इस प्रकार पुराना ऋण चुकाता चलता है और नया लेता रहता है और अपना खाता चालू रखता है इसी तरह जीव नए कर्म उपार्जन करता जाता है और पुराने भोगता जाता है।

जब तक नये कर्मों का बंधन रोक न दिया जाय और पुरातन कर्मों का अन्त न कर दिया जाय, तब तक निष्कर्म अवस्था-परमात्म-दशा-प्राप्त नहीं हो सकती। सिद्ध बनने के लिए यह दोनों अपेक्षित हैं। नवीन कर्मबंध को रोक देना संवर कहलाता है और पुरातन कर्मों को क्षीण कर देना निर्जरा। संवर और निर्जरा के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है।

नवीन कर्मों का बन्धन किस प्रकार रोका जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर जैन शास्त्रों में बहुत विस्तार के साथ दिया गया है। उस पर प्रकाश डालने का समय नहीं है। सिर्फ इतना कहना है कि श्रीतत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है:—

आस्रवनिरोधः संवरः ।

स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः ।

अर्थात्–नवीन कर्मों का आना रुक जाना संवर कहलाता है। तीन गुप्तियों, पाँच समितियों, दस प्रकार के क्षमा आदि धर्मों, बारह प्रकार की अनित्यता; अशरणता आदि अनुप्रेक्षाओं, बाईस प्रकार के परीषहों के जय एव पाँच प्रकार के चारित्र के पालन से संवर की प्राप्ति होती है। इन सब का प्रीतिपूर्वक सेवन करने से नवीन कर्म आने से रुक जाते हैं। तपस्या के द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय किया जा सकता है। इस प्रकार जो महात्मा संवर और निर्जरा की साधना करते हैं, वे निष्कर्म दशा प्राप्त करके मोक्ष के अधिकारी हो जाते है।

मगर सवर और निर्जरा की साधना सरल नहीं है। उसके लिए सतत उद्योगशील रहना पड़ता है और अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति पर नियंत्रण और अंकुश रखना पड़ता है। तभी संवर और निर्जरा की साधना होती है। फिर स्वतः मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अब चौथी बात यह है कि जब कर्म आत्मा के स्वभाव को विकृत करते हैं और आत्मा मे विभाव दशा उत्पन्न करते हैं तो आत्मा उन्हें क्यों उपार्जित करती है ? अगर आत्मा कर्मोपार्जन नहीं करती तो कौन करता है ? कोई दूसरा करता है तो आत्मा को उनका फल क्यों भोगना पड़ता है ? इस संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वास्तव मे कर्मों का कर्त्ता आत्मा ही है।

विना करे नहीं कर्म हो, यह आतम ही करतार ॥

'क्रियते इति कर्म' अर्थात् जो किया जाय, उसे कर्म कहते हैं। कर्म विना किये नहीं होते। इसके अतिरिक्त यह भी समझ लेना चाहिए कि कर्म जो करता है, उसी को उसका फल भोगना पड़ता है। एक के किये कर्म दूसरे को नहीं भोगने पड़ते। जो आत्मा जिस कर्म का उपार्जन करता है, उसको वही कर्म भोगने पड़ते हैं।

रोटी बन गई, लेकिन क्या विना बनाये ही वह बन गई? नहीं, बनाने से रोटी बनी है। हवेली भी विना बनाये नहीं बनी। इसी प्रकार किये विना कर्म नहीं होते और न उनका फल होता है। अगर विना किये ही कर्म लगते होते तो सिद्ध भगवान् भी कर्म बंध से न बच पाते। उन्हे भी कर्मों का बंध हो जाता और फिर वे सिद्ध न रह जाते और आवागमन करना पड़ता।

किसी कुत्ते को रोटी डालोगे तो वह भी तुम्हारा मुंह चाटने का साहस करेगा। नहीं डालेगे तो वह ऐसा साहस भी नहीं कर सकेगा। इसी प्रकार झूठ बोलना, चोरी करना, परस्त्रीगमन करना, बेईमानी करना आदि कुत्ते हैं। इन्हें जीवन में हिला लिया तो ये मुंह चाटे विना कैसे रहेंगे?

रोज हलवाई के यहाँ गये और एक दिन आधा सेर गुलाबजामुन, दूसरे दिन पाव भर बर्फी, तीसरे दिन सेव और चौथे दिन लड्डू तुलवा-तुलवा कर ले आये। नकद पैसा चुकाया नहीं और अपने खाते में लिखवाते रहे। महीना पूरा हुआ तो हलवाई पचास रुपया तेरह आने का बिल बना कर तुम्हारी दुकान पर आया और कहने लगा-सेठजी, दीजिए मिठाई के दाम। यह देख लीजिए हिसाब। तब आप क्या करेंगे? क्या उस समय लड़ने से काम

चल जाएगा ? लड़ोगे तो वह कहेगा-सेठजी, उस समय गुलाब-जामुन न खाकर ऊँट की लेंडियाँ ही खाली होंगी ! वह तो गर्दन दबोच कर रकम वसूल कर लेगा। यहाँ तक कहेगा कि यदि रुपये नहीं हैं तो लुगाई का घाघरा बेच कर दाम चुकाओ।

इसी प्रकार पहले जो कर्म उपार्जन कर चुके हो, उन्हे तपस्या करके यहीं चुका दिया तो ठीक है। अगर नहीं चुकाया तो याद रखना, बुरे हाल होंगे। एक-एक पाई वसूल की जायगी। कर्म बड़े ही कठोर हैं और वे रियायत करना नहीं सीखे। अपना भरपूर बदला लिये बिना वे नहीं मानते। अतएव भलाई इसी में है कि प्रयत्न तो ऐसा ही करो कि कर्मबन्धन होने ही न पावे। अगर उसे रोक नहीं सकते तो तपस्या करके धीरे-धीरे चुकाते जाओ। सिर पर अधिक भार मत होने दो। बहुत बोझा लाद लोगे तो अन्त में बड़ी कठिनाई में पड़ जाओगे।

आज जो झूठ बोलता है, चोरी करता है, दूसरों को गालियाँ देता है और झगड़ा करता है, वे अपने नाम पर नया-नया कर्ज चढ़ा रहा है। वे सब दाम उसके नाम पर लिखे जा रहे हैं। एक दिन कर्मचन्दजी आएँगे और कहेंगे कि-लाओ, दाम चुका दो। तब तू क्या करेगा ?

दाम बिगाना लाय के, खर्च किया बहु नाम।
जब मुद्दत पूरी हुवे, देना पड़सी दाम ॥

नीमच में एक बाबाजी थे। जिस समय की बात है, उस समय मैं बालक था। उनके गुरुजी की मृत्यु हुई तो उनके नाम पर भंडारा किया गया। बहुत-सी शक्कर आई और बहुत-से लोगों को जिमोया गया।

जब सब काम निवट गया तो शक्कर वाला रुपये माँगने आया। बाबाजी कहने लगे—'राम राम ! हमारे पास रुपये कहाँ पड़े है ?' बहुत कहने-सुनने पर भी जब बाबाजी ने रुपये नहीं दिये तो वह उन्हे एक तरफ ले गया। उसने बाबाजी को इतना पीटा कि अन्त में उनका दम ही निकल गया। जब भंडारा किया तो जीमने वाले बहुत आ गये, मगर मोर खाते समय और मरते समय कोई आड़ा न आया। किसी ने सहायता न की।

इसी तरह, याद रखना, तुम्हारा बड़ा कुटुंब है, विशाल परिवार है, पुत्र-पौत्र हैं, पत्नी और भगिनी है, मगर कर्मो का ऋण चुकाने में कोई भी मददगार होने वाला नहीं है। तुम पाप-कर्म करके जो धनोपार्जन करते हो, उसके सब भागीदार है; मगर पाप कर्म का भागीदार कोई नहीं हैं उसे तुम अकेले को ही भोगना पड़ेगा। जब कर्म उदय आएगा तो कौन तुम्हारी सहायता करेगा ? किसको बुलाओगे और कौन बचा सकेगा ? कर्म तो सब स्वयं ही भोगने पड़ेंगे।

तो कर्मो का बंध जीव स्वयं करता है। क्रिया के बिना कर्म बंध नहीं होता।

जानो सरधो वाद को, और छोड़ो पाप अठार।
चौथमल कहे नीमच में, तू ले संवर को धार ॥

आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद यह चार प्रधान वाद हैं। वास्तव में इन चारवादों में सिद्धान्त का समग्र सार गर्भित हो जाता है। जो इन वादों को समीचीन रूप से समझ लेता है, उसे आत्मकल्याण के लिए अन्य कुछ भी समझने की आवश्य-

कता नहीं रहती। हाँ, इन वादों को समझ लेने पर अठारह प्रकार के पापों का त्याग करना आवश्यक है। यह क्रियावाद है।

जब चारों वादों को समझ लेने पर पाप कर्म का परित्याग कर दिया जाता है, तभी संवर की आराधना होती है। सवर की आराधना करने से क्रिया नहीं लगेगी और क्रिया नहीं लगेगी तो कर्म बंध भी नहीं होगा। कर्मबंध न होगा तो आवागमन भी न होगा और आवागमन न होगा तो दुःख न होंगे। जीव सिद्ध बुद्ध और मुक्त होकर अनन्त अव्याबाध सुख का भागी होगा।

भाइयो! आपको बहुत-सी बातें सुनने को मिलती हैं परंतु इन चार वादों को समझना बड़ी भारी बात है। इनमें भी पहला नंबर आत्मवाद को दिया गया है, क्योंकि शेष वाद आत्मा की सत्ता पर ही निर्भर हैं। आपको अब निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि आत्मा अखंड, अविनाशी, अजर, अमर और अकलंक है। वह स्वभाव स असंख्यात-प्रदेशी है परन्तु कर्मवशात् कर्मोदय से प्राप्त शरीर के बराबर है और शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। जैसे दूध में घी सब जगह है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा सब जगह है। न शरीर का कोई अंग आत्मा से रिक्त है और न शरीर से बाहर ही है।

कई लोग कहते हैं कि आत्मा अकाश की भाँति सर्वव्यापी है। वह शरीर में भी है और शरीर से बाहर भी है। जैसे आपकी आत्मा आपके शरीर में है उसी प्रकार दूसरों के शरीर में भी स्थित है। ऐसा मानना प्रमाण और तर्क दोनों से प्रतिकूल है। शरीर के भीतर किसी भी अंग में सुई चुभोई जाय तो वेदना का अनुभव होता है, परन्तु दूसरों के शरीर में चुभाने पर आपको वेदना अनुभव नहीं होती। शून्य में चुभाने पर भी किसी को व्यथा नहीं होती।

इसका कारण क्या है ? अगर आपकी आत्मा दूसरों के शरीर में भी होती तो दूसरों की वेदना का अनुभव आपको भी होना चाहिए था। चूल्हे या भट्ठे में आग जलती है तो आपको उष्णताजन्य व्यथा क्यों नहीं होती ? व्यापक होने के कारण आत्मा अगर चूल्हे में भी है और भट्ठे में भी है तो गर्मी महसूस होना ही चाहिए ! मगर ऐसा नहीं होता अतएव यही सिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से बाहर नहीं है।

इसी प्रकार कई लोगों का कहना है कि आत्मा अणुपरिमाण है, समस्त शरीर में व्याप्त नहीं है। यह मन्तव्य भी तर्क की कसौटी पर खरा नहीं साबित होता। आत्मा अगर सारे शरीर में नहीं है तो किस जगह है ? सारे शरीर में चेतना की जो प्रत्यक्ष से प्रतीति हो रही है उसे असत्य मानने का क्या आधार है ? समग्र शरीर में सुई चुभने पर वेदना क्यों प्रतीत होती है ?

अमुक मकान में कोई है या नहीं, जब यही पता न चलता हो तब पत्थर फेंक कर देख लिया जाता है। कोई होगा तो लड़ने लगेगा और नहीं होगा तो पता चल जाएगा। इसी प्रकार शरीर के किसी भी अंग में सुई चुभाने से मालूम हो जायगा कि सब जगह आत्मा है या नहीं।

भाइयो ! सत्य यही है कि इस शरीर में सर्वत्र चिदनन्दजी विराजमान हैं। इनका सब तरफ ध्यान है। कोई चुपके से पीठ में सुई चुभावे तो वे उसे पकड़ लेते हैं। समग्र शरीर इनके कब्जे में हैं। जब तक ये इस शरीर में टिके है, तब तक ही शरीर हिलता-डुलता, चलता-फिरता और नाना प्रकार की क्रियाएँ करता है। जब यह कूच कर देंगे तो यह शरीर निकम्मा हो जायगा। पत्नी भी रात

भर लाश के पास बैठने में डरेगी। यह सड़ने लगेगा। लोग शक्ल देखते ही भयभीत होंगे।

जैसे कोई बड़ी हवेली होती है और मनुष्य उसमें पैर रखने से डरता है, इसी प्रकार शरीर भी तीन खंड की हवेली के समान है। लेकिन रमते राम बाबा! चिदानन्दजी जब अपना डेरा उठाकर अन्यत्र विहार कर जाते हैं तो हवेली सुनसान, विद्रूप, डरावनी और बीभत्स सी दिखाई देने लगती है। लोग इसमें तो क्या, इसके पास में रहने से भी भय खाते हैं, सब उस परदेशी से कहते हैं–अभी मत जा।

जाओ जाओ मत रे परदेशी,
छेला प्रीत मत तोड़े रे॥

शरीर इस जीव को कहता है–हे परदेशी पथिक! हमको छोड़ कर अपना रास्ता मत पकड़ो। तुम चल दोगे तो हमारी बड़ी दुर्गति होगी। तुम्हारे कारण ही आज हमारा मान-सन्मान है, रीझबूझ है, पूजा-प्रतिष्ठा है। तुम अपना रास्ता पकड़ोगे तो मुझे कोई पूछने वाला नहीं। यहाँ तक कि कोई रहने भी नहीं देगा। फौरन उठा कर ले जाएँगे और धधकती आग में स्वाहा कर देंगे। तुम्हारे लिए रोएँगे और मुझे जलाएँगे।

काया कैसे रोई निकसत प्राण।

जब जीव निकलने लगा तो यह काया रोने लगी कि अब मुझे कौन रखेगा? मुझे तो अभी-अभी लोग इकट्ठे होकर अग्नि-समर्पण कर देंगे!

मगर अज्ञानी लोग इस पर विचार नहीं करते। वे तो यही समझते है, मानो अजर-अमर होकर आये हैं। सदैव यहीं रहेंगे और कभी नहीं मरेंगे। इसी कारण वे आगे की बात नहीं सोचते और न भविष्य के लिए कोई व्यवस्था करते हैं। वे वर्त्तमान को ही सब कुछ समझते हैं। उसी में मस्त रहते हैं।

अरे जीवों ! जो सत्य है उसकी उपेक्षा करने से क्या लाभ होगा ? तुम्हारी उपेक्षा से सत्य बदल नहीं सकता। सत्य सदा सत्य है। जीवन के बाद अन्त में मृत्यु आती है, यह सत्य है और सत्य ही रहेगा। इसीलिए समझो, बूझो, ध्यान लगाओ। समझते नहीं हो तभी तो भ्रमणा में पड़े हो। इस भ्रमणा से मुक्त होओ और आत्मतत्त्व को पहचानो। ऐसा करोगे तो आनन्द ही आनन्द प्राप्त करोगे।

ब्यावर (अजमेर)
१७-१०-४७

१३

आणाए धम्मो: आज्ञाधर्म



स्तुति:—

उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति—
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय? प्रभो! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ?

जब आदिदेव नाभिनन्दन [भगवान् ऋषभदेव इस धरातल पर सशरीर विराजमान थे और केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से मंडित होकर जगत् के जीवों के कल्याण के लिए यत्र-तत्र विचरण करते थे, तब भक्तिभाव से प्रेरित देवगण स्वर्ण-वर्ण के कमल के

पुष्प भगवान् के चरणों के नीचे रख दिया करते थे। वे कमल प्रसून विकसित और ताजा पुष्पों के समान होते थे। जरा भी ऐसा नहीं लगता था कि वे कुम्हलाए हुए है, मसले हुए हैं या बासी हो गये हैं या उनका मुँह टूट गया हो।

यह देवताओं की रचना होती है। दिव्य शक्ति के धारक और आन्तरिक भक्ति से परिपूर्ण देवों की रचना के सौन्दर्य का वास्तविक वर्णन करना मानवीय शक्ति से बाहर है।

जिनेन्द्र भगवान् जहाँ पाँव रखते है देवता वहीं कमल-पुष्पों की रचना कर देते हैं; यह तीर्थंकरों का एक अतिशय है-प्रातिहार्य है। तीर्थंकरों के परम प्रकृष्ट पुण्य के उदय से यह रचना देवता करते हैं। जिन आदिनाथ भगवान् की भक्ति मे देवगण इस प्रकार तत्पर रहते हैं उन भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार है !

भाइयो ! तीर्थंकरत्व की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। उसे पाने के लिए जन्म-जन्मान्तर में तपस्या एवं साधना करनी पड़ती है। भगवान् आदिनाथ गणनीय बारह जन्मों में साधना करते रहे, तब कहीं तेरहवें भव में तीर्थंकर हुए। यों तो उनकी भी आत्मा अनादि काल से जन्म-मरण कर रही थी, अतएव उनके अनन्तानन्त भव हो चुके थे; परन्तु उन भवों की गणना नहीं की जाती। धर्महीन भव गिनती में नहीं आते। जब से उनकी आत्मा धर्म में प्रवृत्त हुई तभी से इन भवों की गिनती की गई है।

इसी प्रकार आपमें से जिनका जन्म धर्महीन व्यतीत हो रहा है, उनका भव भी गिनती में नहीं आने वाला है। जब आप सम्यग्दर्शन प्राप्त करके सामायिक आदि धर्मक्रिया करेंगे तब आपके

भवों की गणना होगी। मस्ती में बीतने वाले भव करना न करना बराबर है। वे दुःख के कारण तो अवश्य होते हैं परन्तु आत्मोत्थान की दृष्टि से नगण्य हैं।

कोई विरले उत्तम जीव होते हैं, जो धर्म के सन्निकट आते है। और धर्म भी वही वास्तविक धर्म है जो सर्वज्ञ द्वारा उपदर्शित हो। इधर-उधर के गपोड़े धर्म नहीं कहलाते। सर्वज्ञप्रणीत समीचीन धर्म का पालन होना चाहिए और वही धर्म आत्मकल्याण का कारण हो सकता है।

श्रीमद् आचारांगसूत्र के (प्र. श्रु. के) पंचम अध्ययन और षष्ठ उद्देशक में श्रीसुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा—

अणाणाए एगे सोवट्ठाणा,
आणाए एगे निरुवट्ठाणा,
एवं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं ॥

भगवान् फर्माते हैं–इस संसार में अनेक प्रकार के साधक हैं। उनमें कोई–कोई तो ऐसे होते हैं जो वीतराग की आज्ञा के विपरीत पुरुषार्थ करते हैं। वे अपने आपको ही सर्वज्ञ समझते हैं, तथापि अल्पज्ञ होते हैं। अपने सर्वज्ञत्व या बहुज्ञत्व के दंभ के कारण वे वास्तविक सर्वज्ञ के आदेश की उपेक्षा करते हुए यथेच्छ प्रवृत्ति करते हैं।

कोई-कोई साधक ऐसे भी होते हैं जो विनम्र तो हैं और भगवान् के आदेश पर श्रद्धा भी रखते हैं, परन्तु पुरुषार्थ हीन हैं। प्रवृत्ति की अपेक्षा मन्द हैं। वे वीतराग के शासन को यथार्थ रूप से समझते हुए भी कायरता के कारण संयममार्ग में यथेष्ट प्रवृत्ति नहीं करते।

यह दोनों ही प्रकार के साधक आत्मकल्याण से वंचित रह जाते हैं। प्रथम प्रकार के साधक पुरुषार्थी होकर भी अपने पुरुषार्थ का गलत मार्ग में उपयोग करते हैं और दूसरे प्रकार के साधक सही मार्ग को समझते हुए भी पुरुषार्थ नहीं कर पाते।

गलत साधनों की इन परिस्थितियों से सावधान करते हुए भगवान् चेतावनी देते हैं—

एवं ते मा होउ।

हे साधक! तू इन दोनों प्रकार की दुर्बलताओं से दूर रहना। इन दोनों श्रेणियों में से किसी भी एक श्रेणी में मत आना। यही कुशल पुरुष का दर्शन है।

भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलने में आलस्य नहीं करना चाहिए और जो उद्यम हो वह भगवान् की आज्ञा से बाहर नहीं होना चाहिए।

लोकव्यवहार में ही देख लीजिए कि सरकार का जो आदेश घोषित हो जाता है, उसे प्रत्येक अधिकारी या कर्मचारी को मान्य करना ही पड़ता है और उसी के अनुसार वर्त्ताव करना पड़ता है। अगर कोई भी कर्मचारी उस आदेश के विपरीत चले या आदेश का पालन न करे तो उसे तरक्की तो दूर रही, दंड का भागी बनना पड़ता है। उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाता है। चाहे कोई एम. ए. हो, पी. एच. डी. हो या अन्य किसी बड़ी से बड़ी उपाधि का धारक हो, उसे आज्ञा माननी ही पड़ेगी। सरकार की आज्ञा का पालन न करने वाला सरकारी कर्मचारी कभी आगे नहीं बढ़ सकता।

इसी प्रकार धर्म-मार्ग की सरकार तीर्थंकर भगवान् है। उनके बनाये विधान और कायदे-कानून शास्त्र में लिखे हैं। यह

शास्त्र धर्म के कानूनों की पुस्तकें हैं। इनके अनुसार चलने से ही कल्याण हो सकता है। इन कानूनों का पालन करना ही धर्म है और यही मोक्ष का कारण है।

वास्तव में आज्ञा के बाहर जाना ठीक नहीं है। जैन साधु को ही लीजिए। तीर्थंकर भगवान् का आदेश है—

काले कालं समायरे।

अर्थात-जिस काल में जिस क्रिया को करने का विधान किया गया है, उस काल में वह क्रिया अवश्य करनी चाहिए। कल्पना कीजिए, प्रतिलेखन का समय तो हो चुका है, किन्तु कोई साधु विचार करता है-हमेशा तो प्रतिलेखन करते ही रहते है; आज अभी नहीं फिर कर लेंगे। मगर ऐसा विचार करना उचित नहीं है। जिस समय भगवान ने प्रतिलेखन, ध्यान, स्वाध्याय आदि करने की आज्ञा फर्माई है, उसी समय वह सब क्रियाएँ करनी चाहिए। यदि उस समय का उल्लंघन कर दिया तो फिर चाहे तुम कितना ही काम करो, वह भगवान् की आज्ञा से बाहर हो होगा। आज्ञा से बाहर प्रतिलेखन करना धर्म नहीं है। आज्ञा का उल्लंघन करके यदि महीने-महीने की तपस्या की जाय तो भी वह धर्म को कोटि में नहीं है। उस क्रिया से मोक्ष नहीं मिलता। यों तपस्या करना बहुत अच्छा है, लेकिन भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करके करना उचित नहीं।

जीवराजजी! तुमको अनन्त काल हो चुका जिनराजजी की आज्ञा के बाहर कार्य करते हुए, आलस्य करते हुए और उद्यम न करते हुए। अब तो जिस समय जो कार्य करने योग्य है, वह करो। सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास, एकाशन, आयंबिल, ध्यान, स्वाध्याय आदि जो भी करो, उसकी विधि के अनुसार करो। जैसे-

आयंबिल की विधि है कि रोटी पानी में चूर कर खाई जाय; तो इसके बदले ऐसा मत करो कि पहले रोटी खा लो और फिर ऊपर से पानी पी लो। विधि के अनुसार क्रिया करोगे तो आज्ञा का पालन करना कहलाएगा। आज्ञा की उपेक्षा करोगे, या उसके विपरीत आचरण करोगे तो आवागमन की वृद्धि होगी। अन्त नहीं आएगा।

शिष्य कितना ही जोर लगावे और करनी करे, लेकिन गुरु की आज्ञा के बाहर होकर करेगा तो उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। कदाचित शुभ प्रकृति बंध गई तो यह तो मजदूरी का पैसा मिलना ही कहलाया। माल के मालिक को जो रकम मिलती है उसे पाने का सौभाग्य मजदूर को नहीं मिल सकता।

तो शिष्य में दोनों बातें नहीं होनी चाहिए—जिनाज्ञा के बाहर जाना और जिनाज्ञा के पालन में आलस्य करना। यह किसी साधारण व्यक्ति का कहा सिद्धान्त नहीं है। अनन्त ज्ञानियों ने इसका प्रतिपादन किया है। अतएव इसे ध्यानपूर्वक समझो और विचार करो कि भगवान् की आज्ञा क्या है? भगवान् ने किन बातों का विधान और किन बातों का प्रतिषेध किया है? जिनका विधान किया है, उनका आचरण करो और जिनका निषेध किया है, उनसे बचो।

जिन धर्म में आज्ञा को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। 'आणाए धम्मो।' अर्थात् भगवान् की आज्ञा में ही धर्म है, ऐसा शास्त्रों का स्पष्ट विधान है। यही नहीं, भगवान् की आज्ञा के विषय में गंभीर विचारणा करने के हेतु धर्म ध्यान का एक भेद 'आज्ञा-विचय' पृथक् बतलाया गया है। उसमें इसी विषय का विचार किया जाता है कि सर्वज्ञ देव की आज्ञा क्या है? उस आज्ञा का यथावत्

अनुसरण करने से जीव को क्या लाभ होता है? जो आज्ञा का पालन नहीं करते उनको किस प्रकार चारों गतियों में भटकना पड़ता है? किस किस प्रकार के कष्ट और दुःख भुगतने पड़ते हैं?

इस प्रकार का चिन्तन करने से भगवान् की आज्ञा का स्वरूप समझ में आ जाता है। और आज्ञा के प्रति अभिरुचि भी उत्पन्न होती है।

तात्पर्य यह है कि वीतराग की आज्ञा पालने में ही जीव का कल्याण है। जो आज्ञा का पालन न करके प्रतिक्रमण के समय माला फेरता है और माला फेरने के समय प्रतिक्रमण करता है, वह आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण उस क्रिया का फल नहीं पाता। अतएव आज्ञा बड़ी चीज है और आज्ञाकी कद्र करना चाहिए आज्ञा का आराधन करना चाहिए और आज्ञा के बन्धन में बन्धे रहना चाहिए। जो आज्ञा के बन्धन में स्वेच्छा पूर्वक बंधता है, वही केवल ज्ञान पाता है और वही सुखी होता है।

स्त्री यदि अपने पति की आज्ञा बराबर माने तो पति खुश होकर उसके गोखरू में मोती भी लगवा देता है और हार्दिक स्नेह प्रदान करता है। इसी प्रकार भगवान् की आज्ञा में रहने वाला साधक और गुरु की आज्ञा का अनुसरण करने वाला शिष्य समस्त दुःखों से पार हो जाता है।

आज्ञा बड़ी जबर्दस्त चीज है। बाप की आज्ञा में बेटा रहे, गुरु की आज्ञा में शिष्य रहे और तीर्थंकर की आज्ञा में समस्त श्रीसंघ रहे, तो उसका कल्याण होने में विलम्ब नहीं लगता।

हे शिष्य! तू समझता है कि यह कार्य अच्छा है, लेकिन गुरु उसे अच्छा नहीं समझते, तो तू गुरु का कहना मान। अपनी

बुद्धि गुरु के चरणों में समर्पित कर दे। तू निवेदन कर परन्तु निर्णय करने की सत्ता गुरु को ही सौंप दे। यह भार तू अपने माथे पर मत ले। गुरु तेरे अज्ञान-अंधकार का विनाश करने वाले हैं। उनके द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलेगा तो तुझे दिव्य प्रकाश मिलेगा।

हाँ गुरु बनाने की तुझे स्वतन्त्रता है। जिसमें गुरु के योग्य गुण हों और जो गुरुत्व की कसौटी पर खरा उतरता हो, उसी को गुरु बनाना चाहिए। परन्तु जब समझ-बूझ कर एवं परीक्षा करके किसी को गुरु बना लिया तो उसके आदेश में रहना चाहिए। फिर अपनी सुविधा के लिए अथवा आलस्य के कारण उनकी आज्ञा के विपरीत आचरण करना हितकर नहीं है। इस बात का पूर्ण विश्वास रखना चाहिए कि गुरु तेरा हित ही चाहते हे, अहित कदापि नहीं चाहेगे। अतएव उनका जो भी आदेश है, वह तेरी भलाई के लिए ही है।

देखो, जब बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ होती है तो प्राणो पर बड़े से बड़ा संकट होने पर भी फौज अपने सेनापति के आदेश पर ही चलती है। सेनापति का आदेश पाये बिना फौज के सिपाहियों को खड़े-खड़े मर जाना कबूल होगा, लेकिन वह दुश्मन पर गोली नहीं चलाएँगे। सेनापति के आदेश पर पूरी की पूरी फौज अपने प्राणों को होम देने के लिए तत्पर रहती हैं। इस प्रकार दुनियावी कामों में भी आज्ञा का बड़ा महत्व है और आज्ञा पालन से ही विजय की प्राप्ति होती है।

आज्ञा में रहने वाला कभी भूखा नहीं मरता। जो आज्ञा में रहेगा उसे कभी कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। आज संसार के प्रायः प्राणी भगवान् की आज्ञा के बाहर कार्य कर रहे हैं, उद्यम कर रहे हैं, छह काया का आरंभ कर रहे है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा

और वनस्पति काय के जीवों को तथा कीड़ों, मकोड़ों, जानवरों और मनुष्यों को मार रहे हैं। अन्य पापकार्यों में भी पुरुषार्थ कर रहे हैं। असत्य भाषण करते हैं, दूसरों के अधिकारों को अपहरण करते हैं, दूसरों को अपना गुलाम बनाकर उन पर सत्ता स्थापित करते हैं, लोभ लालच में पड़कर रात दिन 'हाय पैसा हाय पैसा' की रट लगा रहे हैं। आत्मा को भूल कर बाह्य पदार्थों में आसक्त हो रहे हैं। रात--दिन शरीर के पोषण की ही क्रियाएँ कर रहे हैं। इन्द्रियों के विषय में ही सुख की कल्पना करके उनकी ही प्राप्ति के लिए उद्योग कर रहे हैं। नाना प्रकार के प्रपंच करते संकोच नहीं करते।

यह सब आज्ञा के बाहर के उद्योग हैं। जीवों का यह पुरुषार्थ भगवान की आज्ञा के अनुकूल नहीं, प्रतिकूल है। ऐसे जीवों को भगवान की आज्ञा का ज्ञान नहीं है। जिन्हे ज्ञान है, ऐसे पुरुष विरले है। मगर उनमें से भी अधिकांश अपने ज्ञान के अनुसार आचरण नहीं कर रहे हैं। जिन्हें भगवदाज्ञा का ज्ञान भी है और जो उस ज्ञान के अनुसार ही आचरण करते हैं, ऐसे उत्तम पुरुषों की संख्या नगण्य है।

भगवान् की आज्ञा सदा काल एक-सी रहती है। जिस कार्य के लिए 'हाँ' है, उसके लिए कभी 'न' नहीं होगा। और जिसका निषेध है, उसका विधान न होगा। दया का विधान है तो हिंसा का विधान न होकर निषेध ही होगा। उसमें पूर्वापरविरोध के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं है। सर्वज्ञ के वचनों में पारस्परिक विरोध या व्याघात नहीं हो सकता। वे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि किसी भी प्रमाण से बाधित नहीं हो सकते। ऐसा समझ कर परमप्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य करने में ही कल्याण है।

मनुष्य की मनुष्यता का वास्तविक रूप यही है कि वह भगवान की आज्ञा से बाहर न जावे। लोकव्यवहार में भी लोग कहते हैं-भाई, इसका विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसका घर के बाहर पैर पड़ गया है!

कहते हैं-रामचन्द्र गये तो सीताजी के चारों ओर कार लगा गये-मर्यादा बाँध गये और कह गये कि कार के बाहर पैर मत रखना। मगर होनहार टाले नहीं टली। भवितव्य कुछ ऐसा था कि सीताजी कार के बाहर चली गईं। उसका क्या परिणाम निकला, यह सबको मालूम है। रामचन्द्र को बड़ी परेशानी हुई, भयानक लड़ाई लड़नी पड़ी। लक्ष्मणजी मरते-मरते बचे। सीता को रावण की कैद में समय व्यतीत करना पड़ा और आग के कुण्ड मे कूद कर अपनी निष्कलंकता साबित करनी पड़ी। हनुमान जी को भी बड़े संकट में पड़ना पड़ा। यह सब आज्ञा के बाहर का कार्य करने का दुष्परिणाम था।

आज्ञा के विपरीत कार्य करने का नतीजा कभी अच्छा नहीं होता। इसमें अनेक संकट हैं, मुसीबतें है, परेशानियाँ हैं, दुःख हैं। अतएव आज्ञा के महत्त्व को समझो और उसका पालन करो। ऐसा करने से ही सुख की प्राप्ति होगी।

देखो बाहुबलीजी ने आज्ञा के बाहर कितना तप किया? बारह महीनों तक निर्जल और निराहार रहे। शीत-उष्ण को समान भाव से सहन करते रहे। एक स्थान से हिले नहीं और अखण्ड ध्यान में लीन रहे। अगर इतनी कठोर करनी आज्ञा में होती तो इतनी करनी से पाँच-सात को केवलज्ञान हो जाता। किन्तु जब तक उनकी कठोरतर साधना आज्ञा-बाह्य रही, तब तक उससे प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई। अर्थात् जिस प्रयोजन से-कैवल्य प्राप्त करके

मुक्ति प्राप्त करने के लिए-वे तपश्चर्या कर रहे थे, वह उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। मगर जब आज्ञा में आये और निःशल्य हुए तो थोड़ी-सी देर में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

ब्राह्मी और सुन्दरी उनकी दोनों बहिनें थीं। दोनों संयम धारण करके साध्वी बन चुकी थीं। उन्होंने बाहुबली के निकट आकर थोड़ा-सा समझाया तो वे फौरन ही समझ गये। उन्होंने सोचा-यह न्याय की बात कहती है। जिनमार्ग का पथिक बना हूँ तो जिनमार्ग के नियमों का ही मुझे पालन करना चाहिए। जिनमार्ग में चारित्र पूज्य माना गया है और जो संयम में ज्येष्ठ है, उसे वन्दना करने का विधान किया है। उम्र आदि का यहाँ कोई विचार नहीं है। फिर मैं क्यों वृथा अहंकार का शिकार हो रहा हूँ?

इस प्रकार बाहुबली स्वामी की विचारधारा ज्यों ही जिनाज्ञा के अन्तर्गत हुई कि उसी समय उन्हें सर्वज्ञता प्राप्त हो गई।

अब आप आज्ञा के महत्त्व पर विचार कीजिए। आज्ञाबाह्य कठोर से कठोर क्रिया करने पर भी केवलज्ञान नहीं हुआ और आज्ञा के अन्दर आते ही अनायास ही ज्ञान प्राप्त हो गया। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि आज्ञापालन में कितना सामर्थ्य है?

शिष्य का सबसे पहला कर्त्तव्य है गुरु की आज्ञा का पालन करना। गुरु जो आज्ञा दें, सर्वतो भावेन तत्काल उसका पालन करना शिष्य का कर्त्तव्य है। अगर गुरुजी आदेश देते है कि तुम्हे छह महीने बाद मेरे पास आना चाहिए तो शिष्य को चाहिए कि वह छह महीने में ही उनके समीप पहुँचे। हजार उपकार होते हों तो छोड़ देना चाहिए।

आप कह सकते हैं कि अगर आने का समय आगे-पीछे हो जाय तो भी क्या हानि है? उपकार हो जाय तो अच्छा ही है।

मगर यह विचार उचित नहीं है। गुरु की आज्ञा का पालन करने में भी उपकार है अतएव आज्ञापालन को ही प्राथमिकता देनी चाहिए। इसी मे हित है।

भगवान् महावीर का समवसरण लग रहा था। देव, मनुष्य, साधु, साध्वी आदि की परिषद् भगवान के धर्मपीयूष का पान करने के लिए उत्कंठा के साथ बैठी थी। उन परिषद् में महासती चन्दन-बाला भी थीं। भगवान् की देशना सुनने के लिए ज्योतिष्कलोक से चन्द्रदेव भी आये थे और सूर्यदेव भी आये थे। चन्द्र-सूर्य देव के आते ही चन्दनबालाजी समवसरण से उठ कर चली गईं।

मगर मृगावतीजी वहीं रह गईं और चन्द्र-सूर्य की मौजू--दगी के कारण उन्हे यह मालूम ही न हो सका कि कब दिन समाप्त हो गया है और कब रात्रि आरंभ हो गई है ? जब चन्द्र और सूर्य देव चले गये तब ज्ञात हुआ कि रात्रि हो चुकी है। मृगावतीजी एकदम अपनी गुरुणी के पास पहुँचीं। तब गुरुणी चन्दनबाला ने पूछा--इतनी रात तक वहाँ क्यों रही ?

मृगावती भी गृहस्थावस्था में रानी थीं और संसार का विशाल वैभव त्याग कर साध्वी बनी थीं। मगर उन्होंने यह नहीं सोचा कि छोटी-सी बात के लिए हमसे जवाब तलब किया जा रहा है! मैं कुछ इधर-उधर भटकती तो फिरी नहीं। भगवान के उपदेशा-मृत का पान करने गई थी। दिन-रात का भेद नहीं जान पड़ा और देर हो गई तो कौन--सा गजब हो गया !

मृगावती ने यह भी नहीं सोचा कि-अगर चन्दनबाला जी को अपने संयम की फिक्र है तो क्या मुझे नहीं है ? मैं भी तो त्याग

भाव से ही इस पथ की पथिक बनी हूँ ! गुरुणी हैं तो क्या इसलिए कि तनिक-सी बात पर रौब गांठने लगीं !

नहीं, मृगावती ने ऐसा कोई अयोग्य विचार नहीं किया। वह उच्च कुल में पली थी और उच्च कुल में रही थी। अतएव अनुशासन के महत्त्व को भलीभाँति समझती थी। सती मृगावती ने अत्यन्त विनम्रता के साथ यही उत्तर दिया–'गुरुनीजी, भूल हुई, क्षमा कीजिए।'

इस पर भी कडक अनुशासन रखने वाली चन्दनबालाजी ने मृगावतीजी को खड़ी रहने का दंड दिया।

मृगावतीजी के चेहरे पर क्रोध या आवेश का कोई चिह्न नहीं है। है सिर्फ आत्मग्लानि का भाव। खड़ी-खड़ी वह अपने आपको धिक्कार देने लगी। विचार किया–धिक्कार है मुझको ! मैंने किस लिए घर छोड़ा था ? क्या आज्ञा के बाहर करनी करने के लिए घर छोड़ा ? आह, मैंने अपने कुल को कलंक लगा दिया। कैसी भूल हुई !

इस प्रकार शुद्ध भाव से पश्चात्ताप करते-करते ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। अब उन्हें जो भी ज्ञातव्य था, सब जान पड़ने लगा। विश्व का अणु-अणु उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो उठा।

उसी समय अंधकार पूर्ण उपाश्रय में एक सर्प आ पहुँचा। मृगावती जी ने जान लिया कि सर्प गुरुनीजी के हाथ की ओर बढ़ने वाला है। यह जानकर उन्होंने गुरुनीजी का हाथ हटाकर दूसरी तरफ कर दिया। हाथ के स्पर्श से गुरुनीजी की निद्रा भंग हो गई। उन्होंने पूछा–क्यों, हाथ क्यों हटाया ?

मृगावतीजी ने कहा—साँप था।

गुरुणीजी—तुम्हें कैसे दिख गया?

मृगावतीजी—आपके प्रसाद से।

गुरुणीजी—हैं क्या ज्ञान प्राप्त हुआ है?

मृगा०—जी हाँ अप्रतिपाती।

चन्दनवाला समझ गई कि सती मृगावती को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। अब चन्दनवालाजी के पश्चात्ताप का अवसर आया। वे पछतावे के साथ सोचने लगीं-ओह, मैंने सर्वज्ञ की आसातना कर डाली।

उसी समय चन्दनवालाजी खड़ी होकर बोली--मैंने आपकी आसातना की है, क्षमा कीजिए। अनजान में ऐसा हुआ। आपका त्याग और संयमजीवन सफल हुआ। आप कृतकृत्य हुई। आपने मुझे पीछे रख दिया। मैं आपका अभिनन्दन करती हूँ।

इस प्रकार पश्चात्ताप की आग में चन्दनवाला की आत्मा भी स्वर्ण की भाँति सर्वथा शुद्ध हो गई। उनके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय हुआ और केवलज्ञान प्रकट हो गया।

इस उदाहरण से भी आज्ञा का महत्व समझ में आ सकता है। बेचारे चौरासी के पाहुने क्या समझें कि आज्ञा धर्म क्या है? आज्ञाधर्म की महिमा तो इतनी विशाल और उत्कट है कि उसकी ही आराधना से केवलज्ञान प्रकट हो सकता है।

इसी प्रकार लोक में भी आज्ञापालन का प्रभाव अपूर्व होता है। जो पतिव्रता स्त्री अपने पति की आज्ञा का पालन करती है, उसे अद्भुत शक्ति प्राप्त हो जाती है, इस में जरा भी संदेह नहीं है।

एक महिला बड़ी मालदार थी। जब उसका पति परदेश जाने लगा तो उसे यह अच्छा नहीं लगा। उसने रोकने का प्रयत्न किया, मगर कार्य कुछ ऐसा अनिवार्य था कि उसे जाने को विवश होना पड़ा।

सेठ ने कहा--मैं जल्दी लौट आऊँगा। तुम यहीं रहो। स्त्री ने अपने पति के लिए बहुत उत्तम और स्वादिष्ठ भोजन बनाया और प्रेम से जिमाया।

भोजन कर चुकने के पश्चात् सेठजी ने हाथ-पैर धोकर सेठानी से कहा—देखो, हर बात की होशियारी रखना। अपने कुल की जो मर्यादा है, उसका उल्लंघन न करना। घर-गृहस्थी संभालना।

सेठजी जब जाने लगे तब भी उन्होंने कहा-होशियारी से रहना।

यह सुनकर सेठानी ने कहा—जरा आप ठहर जाइए। मैं अभी वापिस आती हूँ।

यह कह कर सेठानी चली गई और गुलाब का एक फूल लेकर लौटी। सेठजी के हाथ में फूल देकर उसने कहा—यह फूल लीजिए और संभाल कर रखिए। जब तक यह कुम्हलाए नहीं और इसी प्रकार ताजा बना रहे, तब तक समझिए कि आपकी पत्नी अपने धर्म में स्थिर है। आप इस फूल को साथ रखिए।

सेठजी फूल लेकर चले गये। वे ज्यों ही हवेली से बाहर निकले कि उनकी पत्नी झरोखे पर चढ़ कर और पर्दा हटाकर पतिदेव के दर्शन करने लगी। उसी समय राजा की सवारी उस रास्ते से जा रही थी। सेठानी ने ज्यों ही मुंह बाहर निकाला, राजा की

निगाह उस पर पड़ गई। वह सेठानी के रूप--सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया और सोचने लगा-'यह रमणीरत्न तो राजा के योग्य है। मुझे प्राप्त होना चाहिए।' वह उस पर अत्यन्त मुग्ध हो गया।

महल में पहुँच कर राजा ने उसे पाने के अनेक प्रयत्न किये मगर सब निष्फल हुए।

वह रमणी अपनी पतिव्रत की मर्यादा में इतनी दृढ़ थी कि उसे संसार का बड़े से बड़ा प्रलोभन भी अपने पथ से विचलित नहीं कर सकता था। यही नहीं, उसे अपनी इस मर्यादा का पूर्ण विश्वास था और इसी कारण उसने फूल देने का साहस किया था।

उधर राजा भी अपनी धुन का पक्का था। इसके सिवाय विषयासक्त मनुष्य सब प्रकार के विवेक से शून्य बन जाता है। जब अन्तःकरण में विषय वासना की आग भड़कती है तो मनुष्य आन्तरिक संताप से विकल हो जाता है। उसे खाना-पीना, बोलना, बात करना आदि कुछ भी नहीं सुहाता। रात-दिन चिन्ता में ही घुलता रहता है। वस्तुतः विषय वासना सबसे बड़ी बीमारी है जिसका कोई प्रतीकार वैद्य के पास नहीं होता।

लगातार छह महीने तक राजा ने विविध प्रयत्न किये; परन्तु फल कुछ भी न निकला। तब निरुपाय होकर राजा ने मंत्री से कहा-मत्री, छह महीनों से मैं मानसिक व्यथा से पीड़ित हूँ और मुझे तनिक भी नींद नहीं आ रही है।

मंत्री—महाराज इसका कारण ?

राजा—फलां हवेली में एक औरत रहती है। वह मिलनी चाहिए।

मंत्री—राजन् ! वह कोई ऐरी-गैरी पंच कल्याणी औरत नहीं है। वह अपने धर्म में दृढ़ महिला है। बड़ी पतिव्रता है। वह प्राण त्याग देगी परन्तु धर्म को नहीं त्यागेगी। आप अपने मन को वश में कीजिए। आपका यह विचार धर्म और नीति से विरुद्ध है। राजा, प्रजा का माई-बाप है। धर्म का संरक्षक होता हैं। उसे नीति की रक्षा करना चाहिए।

राजा—वह धर्म नहीं छोड़ेगी तो मैं भी छुड़ाए विना नहीं रहूँगा। तुम्हारे उपदेश से मेरा काम नहीं चल सकता। उसके बिना मेरे प्राण नहीं बच सकते। मै उसे प्राप्त करके ही रहूँगा।

मंत्री—महाराज, आप अपने धर्म का और कर्त्तव्य का मनन कीजिए। जब आप वस्ती के माता-पिता के समान है तो सारी प्रजा आपकी सन्तति है। अतएव अपको धर्म पर कायम रहना चाहिए।

राजा—मैं धर्म और अधर्म की बात नहीं जानता। एक ही बात जानता हूँ और वह यह कि वह रमणी मुझे किसी भी उपाय से मिलनी चाहिए।

मंत्री फिर समझाता है—

पाप बुद्धि छोड़ दो, साहेब प्रभु के वास्ते।
पाप करना है नहीं, अच्छा किसी के वास्ते॥

राजन् ! यह पाप है। किसी को धर्म से डिगाना बहुत बड़ा पाप है। आप पाप करने की बुद्धि का परित्याग कर दीजिए। इसी में आपका मंगल है। इसी से आप सुख प्राप्त कर सकेंगे।

हे साहब, अपने लिए नहीं तो ईश्वर के लिए ही पाप को परित्याग कर दो। पाप का परिणाम किसी के लिए भी अच्छा नहीं होता। देखो, रावण कितना प्रतापशाली और प्रचण्ड राजा था। उसकी नीयत बिगड़ गई। वह सीता जैसी आदर्श सती को हरण करके ले गया। इस घोर पाप से उसका समस्त पुण्य क्षीण हो गया। बढ़िया-बढ़िया पौष्टिक चीजें डाल कर सीरा बनाया जाय। किन्तु उसमें अन्त में संखिया मिला दिया तो वह सीरा प्राणों का संहारक होता है। इसी प्रकार एक भी भयंकर पाप अनेक सुकृतों के फल को दबा देता है। राजन् ! जानबूझ कर आग से खेलना उचित नहीं। व्यर्थ एक बबाल मोल मत लीजिए। आप अपनी मर्यादा की रक्षा कीजिए। अन्यथा आपकी समस्त कीर्ति और साथ ही शान्ति भी नष्ट हो जाएगी।

मंत्री के इस प्रकार कहने पर राजा ने कहा—अच्छा एक बार उसका मुँह दिखला दो।

मंत्री—पतिव्रता महिला का मुख कौन देख सकता है? या तो उसका पति देख सकता है या विषयविकार के विजेता साधु ही देख सकते है। पतिव्रता किसी अन्य को अपना मुख भी दिखलाना नहीं चाहती।

राजा—अच्छा, तो मै भी साधु बन जाता हूँ।

यह कहकर राजा उसी दिन बस्ती से बाहर बनी अपनी कोठी में रहने लगा। उसने दाढ़ी, मूछ और सिर के बाल बढ़ाने शुरू कर दिये। छह महीने हुए कि राजा के मस्तक के ऊपर जटाजूट और मस्तक के नीचे लम्बी दाढ़ी सुशोभित हो गई। फिर एक दिन वह साधु बन गया। लगोटी कमर में लपेट ली। शरीर पर राख मसल

ली। लम्बा तिलक लगा लिया। हाथ में तूंबा और चीमटा ले लिया।

इस प्रकार साधु का पूरा ढोंग बना कर राजा अपनी कोठी से बाहर निकल पड़ा। इस रहस्य को या तो वह स्वयं जानता था या उसका मंत्री। किसी तीसरे को तनिक भी पता नहीं था। 'जय सीताराम, जय रघुनाथ' की टेर लगाता राजा नगर में आ पहुँचा।

बाबाजी का कोई अभिवादन करता तो 'जय सीताराम' कह कर वह उसका उत्तर देता। राजा का पुण्य और तेज कुछ विशिष्ट होता है। इस तेज को देख कर कई लोग उसके पीछे-पीछे हो लिए। सिपाही कहते, क्यों बाबाजी का पीछा करते हो! मगर फिर भी लोग परवाह नहीं करते थे और पीछे लगे ही जा रहे थे।

चलते-चलते बाबा उसी सेठानी की हवेली के द्वार पर जा पहुँचा। वहाँ कुछ रुक कर आवाज लगाई-'जय सीताराम!'

स्त्री ने भीतर से ही कहा-अच्छा महाराज, मैं आती हूँ। जरा-सा ठहर जाइए।

थोड़ी देर में स्त्री नीचे निगाह किये द्वार पर आई और बोली-क्या आज्ञा है महाराज? क्या चाहते हैं?

साधु-जो माँगूँगा वही दोगी?

स्त्री ने सोचा-साधु आटा, घी और शक्कर के सिवाय ज्यादा क्या चाहेगा? चाहेगा तो दे दूंगी। यह सोच कर उसने कहा-कहिए, जो आज्ञा होगी, दे सकूँगी।

बाबा-मैं आम चाहता हूँ।

स्त्री विचार में पड़ गई। वह समझ न सकी कि बाबा ने बेमौसिम की चीज आम की माँग क्यों की है! हो न हो, इसमें कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए।

इसी समय बाबा ने फिर कहा-देखो, तुमने वचन दिया है। उसका पालन करो। आम दो।

हजारों की भीड़ जमा हो गई। लोग तमाशा देख रहे थे और सोच रहे थे कि देखें, आगे क्या होता है? मंत्री भी चुपके-चुपके भीड़ में शामिल हो गया और सोचने लगा-राजा ने यह हठ कैसा पकड़ा है! मृगसिर-पौष का महीना है। इस समय आम कहाँ रक्खे हैं?

इसी समय उस स्त्री की आँखों में एक विशेष प्रकार की चमक उत्पन्न हुई और दृढ़ता के स्वर में उसने कहा-अच्छा बाबा, मैंने वचन दिया है तो उसे पूरा भी करूँगी और आपको आम दूंगी। जरा रुकिये।

इसके बाद वह आम की एक गुठली, कुछ मिट्टी और पानी लेकर द्वार पर आई। उसने मिट्टी मे गुठली गाड़ी और ऊपर से पानी सींच कर बोली-'अगर मेरा पतिव्रतधर्म कायम हो तो आम का पेड़ उग जाना।'

देखते-देखते झाड़ तैयार हो गया। पत्ते लग गये और मौर भी आ गये। कोयल की कूक भी सुनाई देने लगी।

यह एक अद्भुत दृश्य था। हजारों उपस्थित लोग यह देख कर चकित और आत्मविस्मृत हो गये। बहुत जादू के खेल देखे थे लोगों ने, पर ऐसा अलौकिक जादू कभी नहीं देखा था।

बाबा भी चकित था। वह सेठानी के सत्य से प्रभावित हुआ, तथापि उसने कहा-पेड़ का क्या किया जाय ? मुझे तो आम फल चाहिए।

तब स्त्री ने दूसरी बार कहा-मेरे पतिदेव सत्य पर दृढ़ हों तो इस पेड़ में फल लग जाएँ !

स्त्री का इतना कहना था कि आम्रवृक्ष आम्रफलों से लद गया। इतनी केरियाँ उसमें लग गईं कि वृक्ष को उनका भार सहन करना कठिन हो गया।

बाबा हतबुद्धि हो गया। उसने सोचा-अभी पूरा चमत्कार नहीं देखा है। थोड़ा--सी कसर है। उसे भी पूर्ण करना चाहिए। यह सोच कर उसने कहा-कच्चे फलों का मैं क्या करूँगा ! मुझे तो पके आम चाहिए।

तब स्त्री ने कहा-'मेरा धर्म सच्चा, मेरे पति का धर्म भी सच्चा; अगर इस वस्ती के राजा का धर्म भी सच्चा हो तो आम पक जाना।'

स्त्री के इस प्रकार कहने पर भी आम पके नहीं। जब आम नहीं पके तो राजा के देवता कूच कर गये। वह सोचने लगा-मैं इतने आदमियों के सामने परीक्षा में खोटा सिद्ध हो गया। मेरे नाम पर आम नहीं पके। पकते भी कहाँ से, मैं तो अपना धर्म छोड़ कर यहाँ भटक रहा हूँ !

राजा का हृदय पश्चात्ताप की आग से जलने लगा। उसने उसी समय सूर्य की साक्षी से प्रण किया कि आज से परस्त्री को मैं माता-बहिन के समान मानूँगा।

राजा के चेहरे के इस उतार-चढ़ाव को मंत्री बड़े गौर के साथ देख रहा था। उसकी चेष्टाओं से मंत्री ने समझ लिया कि राजा का हृदय बदल गया है और वह सन्मार्ग पर आ गये हैं। अतएव तुरंत मंत्री ने आगे बढ़ कर कहा-हे, महासती, तेरा और तेरे पति का धर्म सच्चा है तो हमारे राजा का भी धर्म सच्चा है। परन्तु राजा के नाम पर सिर्फ एक बोली बोली गई है। हमारे यहाँ तीन बोली बोलने का रिवाज है। अतएव फिर बोली लगाओ।

स्त्री को पुनः बोली बोलने में कोई ऐतराज नहीं था। उसने पुनः कहा-'राजा अपने धर्म पर पक्का हो तो आम पक जाना।

इस बार इतना कहते ही आम सिंदूरिया रंग के हो गये। सब लोग इस आश्चर्य से फिर स्तंभित रह गये। स्त्री ने चार आम तोड़कर बाबा को दे दिये। बाबा-वेषी राजा की प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। आज उसकी प्रतिष्ठा को भारी आघात लगते-लगते बचा। वह आम ही नहीं अपनी इज्जत लेकर जाने लगा। धर्म के प्रभाव से उसे चार आम क्या मिले, प्रतिष्ठा में चार चांद लग गये। राजा को जैसे नई जिंदगी मिली।

जब राजा रवाना होने लगा तो मंत्री ने आदेश दिया-इन सब लोगों को यहाँ से हटा दो। सब लोग अपने-अपने स्थान पर चले जाएँ। कोई यहाँ खड़ा न रहे और न बाबाजी का पीछा करे।

राजा अपनी कोठी में जा पहुँचा। उसने बाल बनवा कर राजसी वस्त्राभूषण धारण किये। तत्पश्चात् सवारी पर आरूढ़ होकर राजमहल में आ गया।

सब जगह राजा की प्रशंसा होने लगी। लोग जगह-जगह कहने लगे-हमारे महाराज भी मर्यादा के पक्के हैं। उनके धर्म के प्रताप से तत्काल आम पक गए। धन्य हैं ऐसे राजा को !

राजा ने दीवान से कहा-तुम धर्म में पक्के थे, इसी से आज मेरी प्रतिष्ठा बच गई।

दीवान ने किंचित् संकोच के साथ कहा-मैं तो निमित्त मात्र था। सच्चे मन से प्रतिज्ञा तो आपने ही की है। आप पवित्र प्रतिज्ञा न करते तो मैं लाख प्रयत्न करके भी क्या कर सकता था। आम कदापि न पकते। महाराज, आपने इस सिंहासन की इज्जत रख ली। वास्तव में आप इस सिंहासन के योग्य हैं। सारा संसार आपका अभिनन्दन करेगा।

यह तो एक दृष्टान्त है। इसका सार यही है कि जो मर्यादा में और भगवान् की आज्ञा में रहता है, उसमें आश्चर्यजनक शक्तियाँ आविर्भूत हो जाती हैं। ऐसी शक्तियाँ जिनकी साधारण जन कल्पना भी नहीं कर सकते। आज्ञानिष्ठ चाहे राजा हो, प्रजा हो, साधु हो अथवा साध्वी हो या कोई भी क्यों न हो, अपने जीवन में अद्भुत सफलता प्राप्त कर लेता है। आचार्य और उपाध्याय अपनी मर्यादा में रहे तो पाँच-पाँच कोस तक विघ्न नहीं आते। अतएव भगवान् की आज्ञा की आराधना करना चाहिए और जो आराधना करते हैं, वे आनन्द ही आनन्द प्राप्त करते हैं।

ब्यावर (अजमेर)
१६-१०-४७

समर्पण भेंट—



मुद्रकः—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखीपुल, रतलाम.